तृतीय अध्याय

महिला लेखिकाओं की आत्मकथाओं का सामाजिक सांस्कृतिक अध्ययन ।

3.1 सामाजिक अध्ययन ।

3.1.1 परिभाषा एवं स्वरूप।

3.1.2 ग्रामीण जीवन के संघर्ष ।

3.1.3 नगरीय जीवन के संघर्ष ।

3.1.4 पुरुषप्रधान व्यवस्था से टकराव ।

3.1.5 आत्मकथाओं न्याय के सरोकार ।

3.2 सांस्कृतिक अध्ययन ।

3.2.1 परिभाषा, अर्थ एवं स्वरूप ।

3.2.2 संस्कृति और संस्कार ।

3.2.3 भारतीय संस्कृति की विशेषताएं ।

खान-पान ।

रहन-सहन ।

रीति-रिवाज ।

वेश-भूषा ।

धार्मिक त्यौहार ।

3.2.4 सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन ।

3.2.5 विदेशी संस्कृति का प्रभाव ।

निष्कर्ष

तीसरा अध्याय

महिला लेखिकाओं की आत्मकथाओं का सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन

3.1. सामाजिक अध्ययन

3.1.1 परिभाषा एवं स्वरूप –

आम बोलचाल की भाषा में लोगों के समूह को समाज कहा जाता है। परन्तु समाज का अर्थ मनुष्यों का समूह नहीं अपितु संबंधों का जाल है। यह संबंध सामाजिक जीवन के हर एक पहलू में विस्तृत होने के कारण जटिल होता है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी के रूप में परिवार धार्मिक, समिति, किसी कार्यालय और राष्ट्र तथा इसी प्रकार अनेक समितियों का सदस्य हो सकता है। प्रत्येक सदस्यता का आधार एक विशेष प्रकार का संबंध है। इन्हीं संबंधों के विकास से सामाजिक व्यवस्था का विकास होता है। मेकाइबर और पेज समाज को परिभाषित करते हुए लिखते हैं ''समाज, रीति-रिवाजों और कार्य-प्रणालियों की अधिकार और पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहों और भागों की मानव व्यवहार के नियंत्रणों और स्वाधीनताओं की व्यवस्था है। यह सामाजिक संबंधों का जाल है[209]।''

---

[209] डॉ० नरेन्द्र नाथ सिंह, समकालीन हिन्दी कहानी का सामाजिक सरोकार, पृ0 11
(आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, लोनी, गाजियाबाद, 201102)

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। उसकी शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक जरूरतें समाज में ही पूर्ण होती है जिसके लिए वह समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ संबंध स्थापित करता है। वास्तव में व्यक्ति में समाज के अन्य सदस्यों से संबन्ध स्थापित करने की प्रवृति स्वाभाविक होती है, जिसे वह सामाजिक अन्तःक्रिया के फलस्वरूप विकसित करता है। एफ.जे. राइट ने समाज को व्याख्यायित करते हुए कहा है - ''समाज केवल व्यक्तियों का समूह ही यह समूह में रहने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों की व्याख्या है[210]।'' श्रीमती सुरजीत कौर के अनुसार ''व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों के रूप जब संस्थात्मक रूपधारण कर लेते हैं, उसे समाज कहा जाता है[211]।'' डॉ. नगेन्द्र ने समाज को परिभाषित करते हुए कहा है ''समाज से अभिप्राय सामुदायिक जीवन की ऐसी अनवरत एवं नियामक व्यवस्था से है, जिसका निर्माण व्यक्ति पारस्परिक हित तथा सुरक्षा के निमित जाने अनजाने कर लेते हैं[212]।'' सिर्फ समुदाय, समूह या दल में रहने का तात्पर्य समाज नहीं है पशु भी समूह बनाकर झुण्ड में रहते है। क्या उसे भी समाज कहना चाहिए? अर्थात नहीं। समाज उस झुण्ड, समूह, समुदाय को कहा जाता है, जिसकी एक व्यवस्था होती है, कुछ नियम होते हैं, लोगों में सामाजिक-भावना, संस्कार और मूल्य होते हैं। प्राणियों के केवल दल होते हैं। उनमें सामाजिक-भावना, संस्कार

---

[210] एफ.जे..राइट, एलिमेन्टस आफ सोसियोलोजी, पृ0 38

[211] श्रीमती सुरजीत कौर, समाज मनोविज्ञान, पृ0 117

[212] डॉ० नगेन्द्र, साहित्य का समाजशास्त्र, पृ0 6 (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली -02, संस्करण 1982)

मूल्यों का अभाव दिखाई देता है। समाज के बलबूते पर ही व्यक्ति प्रगति के पथ पर अग्रसर है। वास्तव में मनुष्य की सभी उपलब्धियों का मूल उस समाज में है। धर्म, दर्शन, कला, मूल्यों आदि के रूप में उसने अभी तक जो कुछ प्राप्त किया है, उसकी पृष्ठभूमि में समाज रहा है। समाज को परिभाषित करते हुए डॉ. नत्थूलाल ने कहा है, ''समाज एक अत्यंत व्यापक शब्द है। इसकी अर्थ-परिधि में धर्म-दर्शन, नैतिक-मूल्य, सामाजिक-संस्थाएं, नारी-दशा, शिक्षा, मनोविनोद के साधन, स्वास्थ्य एवं रोग, श्यनासन, अन्नपान, गृह उपकरण कलाएं आदि विविध विषयों का समावेश होता है[213]।'' समाज शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्व 'अज' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगने से बना है। 'सम्' का अर्थ है - सम्यक् रूप से और 'अज्' का अर्थ है - जाना। इस प्रकार उद्देश्यों की समानता मनुष्यों को एक समाज का रूप प्रदान करती है। वृहत हिन्दी कोश में 'समाज' शब्द का अर्थ है - ''पु.(स.) मिलना, एकत्र होना, समूह, संघ, दल, सभा, समिति, आधिक्य, समान कार्य करने वालों का समूह विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संघटित संस्था, ग्रहों का योग, हाथी[214]।'' प्रामाणिक हिन्दीकोश में 'समाज' का अर्थ - ''समाज, समूह, गिरोह,

(2) एक जगह रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का काम करने वाले लोगों का वर्ग, दल या समूह, समुदाय

---

[213] संपादक रामचन्द्र वर्मा, प्रमाणिक हिन्दी कोश, पृ0 1283

[214] संपादक कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकुंद लाल श्रीवास्तव, वृहत् हिन्दी कोश, पृ0 1441

(3) किसी विशेष उद्देश्य से स्थापित की हुई सभा सोसायटी उक्त-सभी अर्थों में।

डॉ. सम्पूर्णानन्द के अनुसार ''सम अजन्ति जनाः अस्मिन् इति' जिसमें लोग मिलकर एक साथ, एक गति से एक से चलें वही समाज है। एक साथ या 'एक से' चलने का अर्थ उन लोगों से है जो समाज के अंग हो, जिनकी परिस्थितियाँ, प्रयत्न और उद्देश्य एक जैसे हो। उद्देश्य की समरूपता को निर्धारित करने वाले सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व भौगोलिक एकता है[215]।''

मानक हिन्दी शब्दकोश के अनुसार - ''समाज बहुत से लोगों का गिरोह या झुण्ड है[216]।''

डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार - ''मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास उसके सामाजिक जीवन से ही सम्भव हुआ है इसलिए व्यक्ति और समाज की स्वाधीनता परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के आश्रित हैं[217]।'' अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समाज व्यक्ति के संबंधों के आधार पर लगातार विकसित और परिमार्जित होता रहता है। समाज जनरीतियों, रूढ़ियों एवं संस्थाओं, आदतों, भावनाओं एवं आदर्शों की सम्पूर्ण सामाजिक पद्धति है, जो उत्तराधिकार के रूप

[215] डॉ० सम्पूर्णानन्द, समाजवाद, पृ0 19

[216] संपादक रामचन्द्र वर्माद्व मानक हिन्दी कोश, पृ0 284

[217] डॉ० रामविलास शर्मा, साहित्य स्थायी मूल्य और मूल्यांकन, पृ0 18

में हस्तांतरित होती है। व्यक्ति का सर्वांगीण विकास अर्थात् शारीरिक मानसिक, भौतिक, सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक विकास समाज के द्वारा हो पूर्ण होता है।

स्वरूप -

यह पूर्णतया स्पष्ट हो चुका है कि समाज एक व्यक्ति से नहीं बनता इसलिए समाज के लिए एक से अधिक व्यक्तियों की सत्ता की आवश्यकता होती है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और उसमें अपने साथियों के साथ सामान्य रूप से जीवन जीने की क्षमता पाई जाती है। व्यक्ति के ये सम्बन्ध पारिवारिक, राजनीतिक, व्यक्तिगत, आर्थिक, मैत्रीपूर्ण, द्वेषयुक्त, सहयोग से पूर्ण, सहयोग रहित बहुत प्रकार से हो सकते हैं| इन्हीं विभिन्न संबंधों के कारण समाज का निर्माण होता है और इन्हीं सब कारणों से समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन आ जाता है। समाज में रहते हुए व्यक्ति को अपने दायित्वों, कर्तव्यों का बोध होता है। समाज में रहते हुए ही व्यक्ति में सामाजिक चेतना विकसित होती है। परिवेश के प्रभाव से व्यक्ति नैतिकता और व्यवहारिकता को ग्रहण करता है। किसी भी व्यक्ति में चेतना उसकी व्यक्तिगत सम्पति न होकर सामाजिक उपक्रम का फल होती है। ‘‘समाज में जब कोई नूतन विचारधारा समाज में प्रविष्ट होती है और निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती है जो सामाजिक विचारधारा जागृत होती है। यही जागृति सामाजिक चेतना कही जाती है’’[218]। सामाजिक चेतना अभावात्मक या नकारात्मक

[218] अनीता गुप्ता, अमृतलाल नागर के उपन्यासों में चित्रित समाज, पृ0 7

नहीं होती यह व्यक्ति मात्र में विद्यमान रहती है। परन्तु रूढ़ि, अशिक्षा, जड़ता और अभावों के कारण दुष्प्रभावित व कुंठित हो जाती है। इन दुष्प्रभावों से मुक्त रहना और कुण्ठा को अपनी अन्तर्वृत्ति से तिरोहित बनाए रखना सामाजिक चेतना है। अर्चना जैन लिखती है - ''आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय शक्ति तथा समाज में प्रचलित परम्परागत मूल्यों के संघात से जो नई-नई स्थितियां उत्पन्न होती है उनकी समझ और विश्लेषण शक्ति सामाजिक संघर्ष चेतना है[219]।'' अज्ञानता, निरक्षरता, रूढ़िवादिता आदि समाजमूलक संघर्ष चेतना की खुराक है। अक्सर हम देखते है कि जातिवाद क्षेत्रवाद और साम्प्रदायिकता आदि भी सामाजिक संघर्ष को व्यापक बनाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। साम्प्रदायिकता एवं जातिवाद ने भारतीय समाज में कई भयावह सामाजिक संघर्षों को जन्म दिया है। साम्प्रदायिक झगड़ों में रक्तपात का नंगा नाच देखा जा सकता है। स्त्रियों, बुढ्ढे यहां तक बच्चों को भी नहीं बक्शा जाता उनका भी दिन दहाड़े कत्लेआम कर दिया जाता है। भारत-विभाजन के समय भी इन साम्प्रदायिक झगड़ों ने आम आदमी का जीना मुहाल कर दिया था। इसके अलावा जहां भी बदलाव की प्रक्रिया तेज होती है। वहीं संघर्ष भी उत्कटता से ही होता है। मनुष्य में जब-जब समाज में फैली विकृतियों, रूढ़ियों, परम्पराओं, विरूपताओं से जूझने की जितनी अधिक शक्ति, ललक और जिजीविषा उत्पन्न

[219] अर्चना जैन, प्रेमचन्द के निबंध साहित्य में सामाजिक चेतना, पृ0 17

हुई, तब-तब उसे सामाजक अन्तर्विरोधों से टक्कर लेनी पड़ी है। फिर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का युग तो अनेक अन्तर्विरोधी मूल्यों के संक्रमण परिवर्तन का युग रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ऐसी स्थितियां निर्मित हुई कि जीवन और समाज के प्रत्येक क्षेत्र में संक्रमण हुआ। प्राचीन सामाजिक संस्थाओं का उपयोग कम होने लगा और आर्थिक वर्गीय संस्थाएं बलवती हुई। वर्ण-व्यवस्था का स्थान वर्गीय सभ्यता ने ले लिया। प्रत्येक वर्ग सत्ता प्राप्ति हेतु संघर्षरत था। ‘‘इस संघर्ष में पूंजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग ने अधिक हिस्सा लिया क्योंकि एक के पास अर्थ शक्ति व संसाधन उपलब्ध थे, दूसरा वर्ग अर्थ-विपन्न व संसाधन विहीन था। जिससे वह घुटन व असहाय का अनुभव करने लगा और अपनी अस्तित्वहीन स्थिति उसे खलने लगी थी मध्यवर्गीय चिंतक व्यक्ति का ही केन्द्र मानकर चला और समाज पर प्रहार करने के लिए आतुर हो उठा[220]।’’ पश्चिमी सभ्यता, पूंजीवाद, औद्योगीकरण एवं विज्ञान के प्रभाव से भारतीय समाज में चली आ रही संयुक्त परिवार प्रथा में भी बदलाव आने लगा। इसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप एकल परिवार और व्यक्तिवादी चेतना का जन्म हुआ। स्त्रीवर्ग भी जो पितृसत्ता द्वारा निर्मित व्यवस्था से पीड़ित शोषित था वह भी अब अपनी मुक्ति, अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए छटपटाने लगा। उच्च शिक्षा एवं सामाजिक कार्यों में भाग लेने के समान अधिकारों को प्राप्त करके वह समाज में बदलाव आया और नवीन संघर्षों ने जन्म लिया। सामाजिक व्यवस्था जो पितृसत्ता द्वारा

[220] डॉ० चण्डीप्रसाद जोशी, हिन्दी उपन्यास: समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ0 320

निर्मित थी जो पुरातन नियमों पर आधारित थी वह अब छिन्न-भिन्न होने लगी थी। मनुष्य जीवन की सामाजिकता के प्रति उसकी सजगता, रूढ़ियों से संघर्षशीलता तथा अनावश्यक बंधनों से मुक्ति की कामना ने सामाजिक संघर्ष चेतना को बल प्रदान किया, जिसके पूर्ववर्ती स्थितियों के प्रति असंतोष और विद्रोह की स्थिति पैदा हुई। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संघर्ष ही किसी समाज के विकास, प्रगति और खुशहाली के अग्रदूत होते है। संघर्ष ही समाज को नवीन दिशा प्रदान करता है। यदि संघर्ष नहीं होगे तो समाज को निर्मित और निष्प्राण वस्तुओं के समूह की संज्ञा दे दी जाएगी। अनवरत सामाजिक संघर्ष चेतना ही एक नवीन विचारधारा का सूत्रपात करती है।

व्यक्ति के विकास में ही समाज का विकास निहित होता है। अतः व्यक्ति एवं समाज का विकास आपस में संबंधित है। दोनों एक-दूसरे के पूरक है। ‘‘जो कुछ है समाज है व्यक्ति तो उसका कोष्ठ मात्र है। इसमें समाज को शरीर व व्यक्ति को शरीर के विभिन्न अंग जैसे आंख, कान, नाक, पेट, नाडियां, कोष्ठ है। शरीर से पृथक होने पर उसकी कोई सत्ता नहीं होती| उसका अस्तित्व शरीर के साथ जुडने से है। अलग होने पर वह कोई कार्य नहीं कर सकते उसी प्रकार व्यक्ति का समाज से पृथक होकर कोई अस्तित्व एवं महत्त्व नहीं है’’[221]। जिस तरह सैनिक सेना के बिना अर्थहीन है, विद्यार्थी के बिना कक्षा अर्थहीन है, उसी प्रकार

[221] डॉ० गुप्ता शर्मा, समाजशास्त्र, पृ0 339-340

व्यक्तियों के बिना समाज का कोई अर्थ नहीं है। अर्थात् सदस्यों से मिलकर परिवार बनता है उसी प्रकार व्यक्तियों से समाज की निर्मिति होती है। व्यक्ति और समाज के संदर्भ में नेमिचन्द्र जैन ने कहा है - ''आज दिलों के बीच इतनी बड़ी खाई बनती जा रही है कि व्यक्ति की सामाजिकता और समाज की व्यक्ति प्रधानता को पकड़ना प्रायः असंभव हो चला है[222]।'' जिस तरह व्यक्ति समाज से जुड़ा है उसी प्रकार साहित्य भी समाज से जुड़ा है। साहित्य एक ऐसा माध्यम है जो व्यक्ति में कोमल भावनाएं पैदा करता है| व्यक्ति की व्यवहार कुशल बनाता है। सामाजिक जीवन में साहित्य का महत्त्व निर्विवाद है।

चेतना और मनुष्यों के सामाजिक चरित्र से गहरा संबंध होता है। क्योंकि चेतना से पैदा हुई प्रेरणा के कारण ही मनुष्य कोई कार्य करता है। सामाजिक चेतना हर व्यक्ति में विद्यमान रहती है। यह व्यक्ति में समाज के प्रतिजागरूकता पैदा करती है ताकि समाज में फैली विकृतियों, रूढ़ियों, कुप्रथाओं, पारिवारिक-विघटन, अंधविश्वास, जातिप्रथा, दहेजप्रथा, बाल-विवाह, अशिक्षा आदि को दूर किया जा सके। सामाजिक चेतना में समाज का चिन्तन मनन समाज में फैली कुरीतियों को समाप्त करके, समाज में मूल्यों की रक्षा करने एवं उसके विकास के बारे में किया जाता है। सामाजिक चेतना व्यक्ति को समझ देने के साथ-साथ सामाजिक

[222] डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, तार सप्तक के कवियों की समाज चेतना, पृ0 96

लक्ष्यों की पूर्ति करने की प्रेरणा भी पद्रान करती है। व्यक्ति की सामाजिक चेतना विकासशील रहती है तथा युग से प्रभावित होकर परिवर्तित होती रहती है।

समाजमूलक संघर्ष चेतना के आधार पर ही व्यक्ति पशुत्व से उपर उठकर मानवीय सभ्यता का विकास करना चाहता है। डॉ. रत्नाकर पाण्डेय के अनुसार ''जब कोई नूतन विचार धारा समजा में प्रविष्ट होती है और निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती है तो सामाजिक विचारधारा जागृत होती है। इसी जागृति को सामाजिक चेतना कहा जाता है[223]।'' किसी नवीन विचारधारा के प्रवेश अथवा अन्य कारणों पर जब इन धारणाओं में प्रगतिमूलक बदलाव होता है तो समाज में एक नई चेता की जागृति का क्षण उपस्थिति हो यह चेतना सामाजिक वातावरण के संसर्ग से विकसित होती है। जिससे मनुष्य ना चारित्रिक विकास होता है, इसी से समाज में सक्रियता भी आती है।

महिला लेखिकाओं ने आत्मकथाओं के माध्यम से आमजन पर होने वाले अत्याचार, अन्याय के खिलाफ जागृत समाज मूलक संघर्ष चेतना शक्ति को अभिव्यक्त किया है। पीड़ित और शीर्षित वर्ग के अभिशप्त जीवन, उन पर होने वाले अत्याचार, अनाचार, बेगार व निमर्म शोषण के यथार्थ आत्मीय पक्षों का वर्णन सामाजिक स्तर पर प्रस्ततु किया है।

3.1.2 ग्रामीण व नगरीय जीवन के संघर्ष –

[223] डॉ० रत्नाकर पाण्डेय, हिन्दी साहित्य: सामाजिक चेतना, पृ0 157

हमारे देश की सभ्यता उदय गांवों से ही हुआ है। भारत के साथ गांवों को अनन्य संबंध जुडा हुआ है। वातावरण और परिस्थितियों में बदलाव के साथ-साथ जंगल की पशुओं के चरागाह, कुटीर, आश्रम, जनपद और नगर के रूप में परिवर्तित हुए।

वर्तमान युग वैज्ञानिक और प्रगतिशील युग है। इस युग में जिस प्रकार भारतीय गांवों की उन्नति की अनेक योजनाएं बन रही हैं, उनके विकास हेतु आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक रूप से जो सामूहिक प्रयास किये जा रहे हैं, वे इस बात के जीवन्त साक्ष्य है कि भारतीय जीवन का एकमात्र आधार गांव है।

ग्राम शब्द संस्कृत का शब्द है जिसकी उत्पति एवं अर्थ रामचन्द्र वर्मा के अनुसार निम्नलिखित है - ''ग्राम - पु. (सं. ग्रस(खाना) + मन् आत्व)। 1. मनुष्यों का समूह या उनके रहने का स्थान। आबादी। बस्ती । 2. छोटी बस्ती। गांव[224]।'' जहां तक ग्राम शब्द की व्युप्पति का संबंध है, पाणिनी ने ग्राम की एक स्वतंत्र धातु ही स्वीकार किया है। जिसका अर्थ होता है आमंत्रण इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो जीवन के आमंत्रण का मौलिक अधिकार ग्रामों को ही है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, और संन्यास तीनों आश्रम गृहस्थ आश्रम पर ही आधारित है और गृहस्थ तो ग्रामों में ही रहता है। इस तरह बहुत संभव है कि इसी धातु के अर्थ पर 'ग्राम' शब्द प्रचलित है। वामन शिवराम आप्टे 'ग्राम' शब्द की व्युत्पति के बारे में लिखते है - ''ग्राम: (ग्रस+मन्, आदन्तादे) 1. गाँव, पुर वा-पतने विमाने अपि ग्रामे रत्न

[224] रामचन्द्र वर्मा, मानक हिन्दी कोश, दूसरा खंड, पृ0 151

परीक्षामालति। त्यजेद् कुलस्यार्थे ग्रामस्यापि कुलं त्यजेत् ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मर्थे पृथिवीं त्यजेत् हि[225]। 2 वा जाति। 3. समुच्च संग्रह (किन्हीं वस्तुओं का) उदाहरण गुणग्राम, इन्द्रिय ग्राम[226] 4. सरगम (संगीत मे) स्वरग्राम या सुरक्रम[227]।'' ग्राम पद की व्यत्पुति के संबंध में सिद्धान्तकौमुदी में यह उल्लेख है ''ग्राम शब्द की व्युत्पति 'ग्रस' धातु में 'मन' प्रत्यय लगने से हुई है। 'ग्रस धातु का अर्थ होता है 'ग्रस्त करना' अर्थात् अपने में विलीन की शक्ति रखे, उसे ग्राम का रखने वाला ग्रामणी कहा जाता था''[228]। जिसका अभिप्राय ग्राम पद में अंतर्व्याप्त उस अर्थ शक्ति से है जो अपने में ग्रस्त करने अर्थात् अपने में समाविष्ट करने की भावना रखता है।

''अंग्रेजी में ग्राम के लिए 'विलेज' अथवा 'विला' शब्द का प्रयोग होता है। 'विला' मूलतः फ्रेंच शब्द है, जिसका अर्थ होता है ग्रामीण निवास स्थान''[229]। आक्सफोर्ड डिक्शनरी में 'विलेज' उस स्थान के लिए प्रयुक्त हुआ है जो हैलमेट से बड़ा और नगर से छोटा हो जिसका शासन नगर की अपेक्षा अधिक सरल हो। छोटी इमारतों के समूह को भी 'विलेज' की संज्ञा दी गई है''[230]। समाजशास्त्रकोश में गांव को

---

[225] रघु 1/144 मेघ 30।

[226] मेघ 8/19, 9/8 ।

[227] वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ0 359

[228] उद्धृत, भस्मे, डॉ० दिलीप, विवेकीराय के साहित्य में ग्रामांचलित जन-जीवन का चित्रण, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र.स. 2006, पृ0 24

[229] बिला, इंग्लिश डिक्शनरी, 1910

[230] आक्सफोर्ड डिक्शनरी, भाग-6, विशेष संस्करण।

परिभाषित करते हुए लिखा है, ‘‘गांव का तात्पर्य घरों के उस समूह से जिनकी एक निश्चित स्थानीय सीमा तथा नाम होता है। गांव की सीमा में समस्त जमीन आती है जिस पर गावं के लागे रहते हैं। कृषि करते हैं, पशु चराते हैं, अन्य कार्यों के लिए उसका उपयोग करते हैं| यह एक लघु समुदाय है जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से समरूपता लिए होता है। जहां सामाजिक समूहों तथा अनौपचारिक संबंधों की प्रधानता रहती है। जनसंख्या की दृष्टि से ऐसा समुदाय कम घनत्व वाला होता है। यहां व्यवस्था के रूप में कृषि को प्रधानता मिली होती है’’[231]।

‘‘गांव समाज की केन्द्रिय इकाई है| आर्थिक जीवन के आधार पर नगरीय जनसंख्या के स्त्रोत तथा संस्कृति एवं सभ्यता के रक्षक व वाहक के रूप में गांव अभी भी आकर्षण का केन्द्र हैं। समाज की संरचना को निर्मित करने वाली इकाईयों, सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाओं, उनके विकास, परम्परागत स्वरूप एवं कुकर्मों के अध्ययन हेतु ग्रामीण समाज पर्याप्त महत्त्व रखता है’’[232]। इन परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि कृषि गांवों का प्रमुख व्यवसाय है। साथ ही कुटीर उद्योग भी उनकी आजीविका के स्त्रोत हैं। पशुपालन भी ग्रामीण जीवन का मुख्य व्यवसाय है। सामुदायिक भावना समाहित होने से आपसी प्रेम व विश्वास बना होता है। साथ ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के

[231] हरिकृष्ण रावत, समाजशास्त्र कोश अवधारणाएँ, पृ0 184

[232] डॉ० बी.डी. गुप्त, ग्रामीण समाजशास्त्र, साहित्य प्ररिप्रेक्ष्य, पृ0 1

लिए एक दूसरे पर आश्रित होते है। मानव जीवन के विकास की प्रथम कड़ी ग्राम ही है। महिला लेखिकाओं ने आत्मकथाओं के माध्यम से सामाजिक समस्याओं को प्रमुखता से रेखांकित किया है। व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। उसके द्वारा किए गए क्रियाकलाप समाज के अनुसार होते हैं। व्यक्तिगत होते हुए भी उनकी समस्त क्रिया-कलापों में समाज समाहित होता है। विभिन्न परिस्थितियों एवं घटनाओं, समस्याओं में पड़कर अनेक व्यक्तियों में जो पारस्परिक संघर्ष होता है वही संघर्ष सामाजिक संघर्ष कहलाता है। निर्धनता, अशिक्षा, पिछड़ेपन के कारण भारतीय ग्रमीण समाज में ऐसे-ऐसे व्यक्ति भी है जिन्हें भोजन तक भरपेट नहीं मिलता, जिन्हें समुचित व्यवस्था के अभाव में भटकना पड़ता है। असमानता के पत्थर के नीचे दले हुए, पीड़ा से कराह रहे असंख्य प्राणियों को कष्टकारी जीवन बिताना पड़ता है। और जिस समाज की नींव ही मनुष्य द्वारा निर्मित विषमताओं पर टिकी हुई हो, उसे तो और भी कठिनाइयां है। धर्म के जो उच्चादर्शों को पाखंड में तबदील करके उन्हें मनुष्य द्रोही बना दिया है। जो धर्म कभी मनुष्यता की नींव हुआ करता था पाखंड ने उसे पूर्णतः मलिन कर दिया है। अत्यधिक गरीब उपेक्षित होने कारण कठिन परिश्रम से सूखी रोटी अर्जित करने वाले से लेकर, विधवा, परित्यक्ता स्त्रियां तक इनकी आत्मकथाओं में अभिव्यक्ति का स्थान बना पाई हैं। चेतना के कारण ही मनुष्य संघर्ष के रास्ते पर आगे बढ़ता है। चेतना ने ही संघर्ष को जन्म दिया है। इसी संधर्ष चेतना के कारण ही जीवन प्रगति की ओर अग्रसर होता है।

महिला रचनाकारों ने अपनी आत्मकथाओं में ग्रामीण जीवन के संघर्ष उनकी दारूण स्थिति, समाज में फैली विकृतियों एवं रूढ़ परम्पराओं का भी चित्रण किया है।

जड़ता -

शिक्षा व्यक्ति के सामाजिक व आर्थिक विकास के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है परन्तु ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षा का स्तर न्यूनतम होने के कारण ग्रामीण क्षेत्र के लोग जड़ परम्पराओं और कुरीतियों में जकड़े हुए हैं जिन्हें वो चाहकर भी नहीं तोड़ सकते। मनुष्य के विचारों का उसके व्यक्तित्व और उसके सामाजिक विकास से गहरा संबंध है। डॉ. अम्बेडकर का कहना था कि जब तक सर्वहारा वर्ग संगठित होकर मोर्चा नहीं लगाता है, क्रांति कैसे संभव होगी। डॉ. अम्बेडकर जातिविहीन वर्गविहीन समाज की स्थापना हेतु स्वतंत्रता, बंधुत्व और समानता जैसे जनवादी मूल्यों को एक समान रूप से अपनाने पर जोर दे रहे थे। वे चाहते थे कि ग्रामीण वर्ग के लोग जड़ न होकर जागरूक बनें, ताकि समाज में अपने सम्मान व अधिकार को प्राप्त कर सकें और अपना सामाजिक उत्थान कर सकें। भारतीय प्रशासन ने ग्रामीण क्षत्रे में अनेक योजनाएं, सुविधाएं एवं अधिकार प्रदान कर रखे हैं, परंतु अशिक्षित एवं जड़ चेतना के कारण ये लोग अपना समुचित विकास करने में पिछड़ जाते हैं।

शिक्षा के लिए संघर्ष -

अशिक्षा ही समाज में सभी बुराइयों की जड़ है। शिक्षा ही वह साधन है जो व्यक्ति के विचारों में परिवर्तित करके उसके जीवन का दिशा निर्देश करती है।

शिक्षा के द्वारा ही स्त्री सीमित और संकुचित दायरे से निकलकर अपने व्यक्तित्व का विकास कर पा रही है। शिक्षा के द्वारा ही वह अपने अधिकारों को पहचान कर उसके लिए संघर्ष करने लगी है। चेतना जाग्रत होने से वह समाज तथा परिवार में अपने दोयम दर्जे को नकारने लगी है। अब वह पत्नी, माँ, बेटी बनकर पुरूष के अधीन नहीं रहना चाहती। वह स्वयं की एक अलग पहचान बनाना चाहती है। इस संदर्भ में डॉ. हेमेन्द्र कुमार पानेरो लिखते हैं कि - ''परम्परागत ग्रहस्थ एवं पतिव्रता के परिवेश में कुंठित नारी उच्चशिक्षा और नारी स्वातंत्र्य के प्रभाव में स्वछंद जीवन की ओर अग्रसर हुई है। परम्परागत अबला के परिवेश में सबला बनकर पुरूष के समक्ष अपने स्वतत्रं अस्तित्व की घोषणा की''[233]। इस प्रकार शिक्षित स्त्री ने पुरूष के एकाधिकार को चुनौती देकर उसकी दासी नहीं बल्कि उसकी सहयोगी एवं कदम से कदम मिलाकर चलने वाली मित्र बनने की पहल की है। परन्तु इस पड़ाव तक पहुचने में उसने अत्यधिक कठिन संघर्ष झेला है। आज शहर के साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्र में भी शिक्षा के स्तर में बढ़ोतरी हुई है लेकिन लड़कियों को शिक्षा प्राप्ति करने के लिए अभी भी बहुत सारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पढ़ने की इच्छा होते हुए भी कभी गरीबी तो कभी पारम्परिक मानसिकता तथा लिंग भेद की नीति के चलते शिक्षा पाने के लिए स्त्री को संघर्ष करना पड़ रहा है। किसी प्रकार के लिंगभेद को भारतीय संविधान नहीं मानता है। फिर भी स्त्री बाल्यावस्था से ही लिंगभेद का शिकार हो रही है।

[233] परिवारिक जीवन: नारी विमर्श एवं बदलते संदर्भ, पृ0 176

परवरिश से लेकर शिक्षा-दीक्षा तक उसे दोयम स्थान दिया जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त स्त्री पुरूष असमानता को देखते हुए अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (1996) ने स्पष्ट किया था कि समानता का सम्मान करने के लिए शिक्षा जगत में फैले लिंगभेद को खत्म करन होगा लेकिन आज भी भारतीय परिवारों में यह स्थिति बनी हुई है। महिला लेखिकाओं ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त लिंगभेद का चित्रण किया है। प्रभा खेतान को बाल्यावस्था से ही प्रत्येक चीज के लिए संघर्ष करना पड़ा था तो शिक्षा कैसे अछूता रह सकती थी। उन्हें सदैव मां की ममता के लिए तरसना पड़ा। पढ़ाई-लिखाई में तेज होने के बाद भी बहन गीता की तरह सुन्दर और मां की तरह गौरी नहीं बल्कि काली होने के कारण उन्हें सदैव परिवार में उपेक्षा मिली। प्रेसिडेन्सी कॉलेज में सहपाठियों से शोषक मारवाड़ी पूंजीपति की बेटी के रूप में ताने सुनने पड़े। उन्हें घर से कॉलेज की फीस भरने के भी पैसे न ही मिले। वह लिखती है कि ‘‘एम.ए की परीक्षा की फीस के पैसे भी इस बड़े घर की बेटी ने अपनी सहेली से उधार लिए थै। क्योंकि अम्मा का कहना था कि अब वे मेरी पढ़ाई का खर्च उठाने में असमर्थ है। हर महीने तेरे पढ़ाई के पैसे कहां से लाऊं? धन्नू (बड़े भैय्या) पैसे देना नहीं चाहता | माँ, भैया, गीता को पैसे देने में कभी मना नहीं करते, मैं ही तो आप सब की परेशानी का कारण हूँ ठीक है आज के बाद मैं आपसे पैसे नहीं मांगूंगी[234]।’’

[234] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ0 82

इसी कारण लेखिका ने एम.ए. होने के पश्चात् 300 रूपये प्रतिमाह पर डॉ. सर्राफ के अस्पताल मे सैक्रेटरी के रूप में नौकरी कर ली। अपने ही घर में लेखिका बचपन में ही मानसिक और शारीरिक शोषण का शिकार हुई थी। पिताजी की मौत के बाद लेखिका से भेदभाव करते हुए पढ़ाई के लिए सहायता नहीं दी। फिर भी लेखिका ने अपनी पढ़ाई जारी रखी और संघर्ष करते हुए एक सफल व्यापारी बन गई। लेखिका चन्द्रकिरण सौनरेक्सा बचपन से ही पढ़ाई में तेज थी। उन्होंने एक ही साल में दूसरी तीसरी और चौथी की परीक्षा पास की थी। लेकिन आर्य कन्या पाठशाला में कक्षा चार तक ही पढ़ना संभव था। ईसाई स्कूल में माँ के विरोध के बावजूद पिताजी के कहने पर वे अकेली दाखिला कराने गई थी। वहां भी उन्होंने पांचवी और छठी की परीक्षा एक ही साल में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इतनी होशियार होनेके बावजूद भी लड़का न होने के कारण आगे की पढ़ाई के लिए मां ने उनका सहयोग नहीं किया। वे कहती है - ‘‘उसी वर्ष मेरठ में रघुनाथ गर्ल्स हाईस्कूल खुला। मैंने बाबूजी से कहा बाबूजी एक साल में आप मुझे अंग्रेजी की सातवीं तक पढ़ाई पूरी करा दें। मैं अगले साल रघुनाथ हाइस्कूल में सातवीं या आठवीं में दाखिला अवश्य लूंगी। बाबूजी तो मान गये, पर मां और मौहल्ले पड़ोसवाले की नजर में अब सयानी हो चली थी। पहले मैं पीछे के बाजार से छोटा-मोटा रोज का सामान जैसे दही, माचिस आदि ले आया करती थी । पर मां ने मेरा अकेले इस तरह बाहर आना बंद करा दिया’’[235]। लेखिका ने फिर भी

[235] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैं ना, प0ृ 82

अपने भाई द्वारा लायी हुई किताबें पढ़कर बाबूजी से अंग्रेजी सीखकर और उर्दू के अखबार पढ़कर अभ्यास करती रही। वर्तमान समय में भी देहातों में सुरक्षा के नाम पर लड़कियों को उच्च शिक्षा से वंचित रहना पड़ता है। क्योंकि उच्च शिक्षा प्राप्ति के लिए सुदूर शहरों में आते-जाते या रहते समय लड़कियाँ शोषण का शिकार हो रही है। कस्तूरी कुंडल बसै आत्मकथा में मैत्रेयी पुष्पा ने माँ कस्तूरी का शिक्षा संघर्ष अभिव्यक्त किया है। बचपन में कस्तूरी कलम, खड़िया, तख्ती और पोथी की फिराक में दिनभर घुमती, भाई की डांट-फटकार और मां की मार खाती लेकिन आर्थिक तंगी के चलते यह सब नसीब न हो सका। वह धरती की नरम रेती को तख्ती और ऊँगली की कलम बनाकर और अक्षर जोड़कर मात्रा मिलाकर शब्द बनाना सीख गई थी। शिक्षा के प्रति यह लगन पति की मृत्यु के पश्चात एक बार फिर से बलवती हो उठी। तत्कालीन नेताओं के भाषण स्त्री शिक्षा पर जोर दे रहे थे लेकिन गांव में किसी प्रकार की कोई सुविधा नहीं थी। पढ़ने-लिखने की आकांक्षा लिए हुए कस्तूरी तहसील इगलास जाकर पढ़ने लगी। बहुत-सी कठिनाईयों का सामना करते हुए वह ग्राम सेविका बन गई थी। वे लिखती है -''यह गांव भी कैसा है, मंदिर दो-दो हैं, स्कूल एक भी नहीं। आज के नेता कहते हैं - पढ़ो-पढ़ाओं यही पुण्य है मगर कहां पढ़ो-पढ़ाओ? उसने कल्पना में एक स्कूल की तस्वीर तैयार की मन आल्हाद से भर उठा। मगर मास्टर कौन? कापी, कलम, स्याही का खर्चा कहां? ...

ढ़ाई कौस इधर से, ढ़ाई कोस उधर से, सबेरे-सांझ, आना-जाना। .... स्कूल जाने वाली झोला लटकाकर आने वाली औरत को भौंचक होकर सबने देखा। वह इस कदर परेशान हुई कि किसी व्यक्ति को तो क्या रास्ते के कंकड़-पत्थर और चढ़ाव-उतार तक न देख पाती। ठोकर लगी मुंह के बल गिरी। झेंपती हुई स्त्री चोट और दर्द भूलकर चुपके से उठती, धूल झाड़कर धीमे से खड़ी होती। आसपास तमाशगीर होते। हंसते-मुसकुराते बूढ़े, जवान और बच्चे। बस इतना पता चल गया कि उसे लोगों ने पागल मान लिया है''[236]। अर्थात् तत्कालीन समाज की सभी पारम्परिक, सामाजिक, मान्यताएं तोड़कर, एक ग्रामीण विधवा की परम्परागत छवि को त्यागकर कस्तूरी ने शिक्षा प्राप्त की थी। मैत्रेयी पुष्पा ने भी स्कूल आने-जाने के दरमियान हुए यौन शोषण और कठिनतम समस्याओं का वर्णन अपनी आत्मकथा गुड़िया भीतर गुड़िया में किया है। मां एक कामकाजी स्त्री थी इसलिए लेखिका को दूसरों के सहारे पढ़ाई करनी पडी। जिनके भरोसे मां छोड़ जाती थी वहीं रक्षक भक्षक बन लेखिका का शोषण करता। उन सबका वर्णन आत्मकथा में हुआ है, उसी साल सहशिक्षा आरम्भ हुई थी। इस कॉलेज में लेखिका पढ़ने वाली अकेली लड़की थी। प्रिंसिपल उसे कहते है - ''अकेली कक्षा में मत बैठा करो लड़की। सहशिक्षा इसी साल से लागू हुई है। लड़के देखते हैं, चौकते हे, चुहल करते है। अपना चरित्र बिगाड बैठेंगे। अकेल लड़की पैतालीस लड़कों के बीच सुरक्षित

[236] मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुंडल बसै, पृ0 31-32

नहीं[237]।'' प्रिंसिपल ने एक्स्ट्रा क्लास के बहाने लेखिका को अपने आफिस में बुलाया और उसके साथ जबरदस्ती करने का प्रयास किया था लेकिन वह बच निकली। इसका वर्णन करते हुए लेखिका कहती है - ''सर एक्स्ट्रा क्लास। .... जवाब में प्रिन्सीपल साहब उठ चले आए। भारी-भरकम शरीर, चौड़ा चकला चेहरा, मझोला कद और सीधे कढ़े काले बाल। मैत्रेयी के बराबर उम्र की बेटी के पिता। बाहों के घेरें में कस रहे हैं लड़की को। चुम्बन और मनुहार ..... सिटपिटा गई लड़की .... सर। सर छोड़िए[238]।'' लेखिका विरोध करते हुए आखिरकार प्रिंसिपल के चगुल से बच निकली। लेकिन शिक्षा अर्जित करने के लिए उन्हें ऐसे ही कई संघर्षों से गुजरना पड़ता है।

'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा में कौसल्या बैसंती ने भी अपनी शिक्षा प्राप्ति के लिए किए गए संघर्षों को अभिव्यक्त किया है। एक तो दलित जाति से सम्बन्धित और उपर से लड़की होने के कारण कठिनाइयां और अधिक बढ़ गई। उस समय गांव में अस्पृश्य समाज में न लड़की, न लड़का पढ़ने जाते थे, न गांव में कोई स्कूल था। कुछ ही गांवों में स्कूल थे। परन्तु शिक्षा के प्रति अस्पृश्य समाज में इतनी जाग्रति नहीं आई थी। लेखिका जिस बस्ती में रहती थी वहां कोई स्कूल नहीं था - ''सिर्फ महार और ईसाइयों के एक दो बच्चे ही स्कूल में पढ़ने जाते थे। हमारी बस्ती में स्कूल नहीं था। परन्तु पास में गड्डी गोदाम नाम की बड़ी

---

[237] वहीं, पृ0 91

[238] वहीं, पृ0 92

बस्ती थी। वहां नगरपालिका का स्कूल था। जिसमें लड़के ही जाते थे। लड़की एक भी नहीं जाती थी। आसपास लड़कियों का कोई स्कूल नहीं था। लोगों में इतनी जाग्रति भी नहीं आई थी। बस्ती में किसी भी जाति में लड़के-लड़कियों को पढ़ाने में मां-बाप को रूचि नहीं थी[239]।'' इन विपरीत हालातों के मध्य रहते हुए बैसंती ने शिक्षा प्राप्त की। एक अछूत महिला जिसका नाम जाई-बाई चौधरी था, ने नई बस्ती नामक जगह पर लड़कियों के लिए एक स्कूल खोला। जाई-बाई स्कूल चलने के लिए चंदा एकत्र करने बहुत दूर अपना रजिस्टर साथ में लिए घूमती रही थी। वे अस्पृश्यों को बस्ती में भी जाकर उन्हें अपनी लड़कियों को स्कूल भेजने के लिए कहती थी। उन्हें शिक्षा के महत्त्व के बारे में अवगत करवाती थी। एक दिन वह लेखिका के घर भी आई और उनकी मां को कहा कि बेटियों को स्कूल भेजिये। मां ने लेखिका और उसकी बड़ी बहन को स्कूल भेजना शुरू कर दिया। यह स्कूल उस वक्त प्राइमरी स्कूल ही था। अब हाईस्कूल हो गया है। हम दोनों बहनें नियमित रूप से स्कूल जाती थी। तीसरी के स्कूल में पढ़ाई की कोई फीस नहीं ली जाती थी। तीसरी कक्षा तक लेखिका ने जाईबाई के स्कूल में पढ़ाई की। उसके बाद तो दूसरे स्कूल में चली गई। मां तो चाहती थी कि मैं चौथी कक्षा तक जाई बाई के स्कूल में ही पढ़ाई करूं | रंगारी और अग्रीभोज ने मां-बाप को समझाया कि अगर वे हमें अच्छे स्कूल में पढ़ाएंगे तो हम अच्छे नम्बर ला पाएंगे और अगर हम अच्छे नम्बर लाए तो हमें स्कालरशिप भी मिलेगी। उन दोनों ने मां-

[239] कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृ0 32

बाबा को समझाया कि वो मुझे सीताबर्डी की भिड़े कन्याशाला में भेजे। उस स्कूल में फीस देनी पड़ती थी। परन्तु उन लोगों ने कहा कि तो फ्रीशिप के लिए कोशिश करेंगे और उन्हें आशा थी कि फ्रीशिप मिल जाएगी। मेरा नाम तीसरी कक्षा के बाद जाई बाई के स्कूल से निकाल दिया गया। बहुत प्रयासों के बाद भी भिड़े कन्याशाला में मुझे फ्रीशिप नहीं मिली। फीस बारह आने थी परंतु उस समय बारह आने देना भी मां-बाबा के लिए कठिन था। जाई बाई के स्कूल से नाम कट जाने पर मजबूर होकर भिड़े कन्याशाला में लेखिका को जाना पड़ा। वहां जाकर उसे सामने जो सबसे बड़ी समस्या थी वो थी जाति की समस्या। क्योंकि उस समय उस स्कूल में लेखिका के सिवा कोई अस्पृश्य लड़की नहीं पढ़ती थी। सिर्फ दो लड़कियां कुनबी जाति की थी। बाकी सब ब्राह्मण जाति की लड़कियां थी। अभी तक लेखिका बस्ती के वातावरण में पली बढ़ी थी। बस्ती के लोग गरीब, अनपढ़ और गंवार थे परन्तु जब वे भिड़े कन्याशाला में आई तो यहां का वातावरण बस्ती के वातावरण से एकदम भिन्न था| स्कूल सीताबर्डी में था और वहां बहुत बड़ी बड़ी मार्केट थी। यह मार्केट ज्यादातर अमीर लोगों के लिए ही थी। आसपास ब्राह्मण लोग ही अधिक थे। अस्पृश्य लोगों की बस्ती एक तरफ थी और उनके मकान कच्ची मिट्टी के बने थे। यहां के अस्पृश्य भी अधिकतर मजदूर ही थे। ‘‘ब्राह्मणों की लड़कियां बहुत अच्छे-अच्छे साफ-सुथरे कीमती कपड़े पहनकर आती थी। उनकी तुलना मे मेरे कपड़े बहुत घटिया होते थे। उन लड़कियों के कानो में सोने की बालियां रहती थी। वे अपनी किताबें अच्छे बस्तों में लाती थी। मेरा

बस्ता दो-तीन कपड़ों की पट्टियों को जोड़कर बनाया गया होता था। वे अच्छे टिफिन बाक्स में (पीतल का) खाना लेकर आती थी। उसमें कभी पूरियां, कभी परोठे, कभी पोहे, कभी सूजी का हलवा, कभी कुछ पकवान रहता था। सफेद रोटियां जिसमें घी लगा रहता था। सब्जी या अचार के साथ वे खाती थी। मेरे घर तो कभी-कभी ही रोटियां बनती थी, वह भी घटिया गेहूँ की। न उसमें घी लगा होता, न अच्छी सब्जी या अचार। कभी-कभार ही मैं चीनी या गुड़ के साथ रोटी लाती थी। मेरे पास अच्छा डिब्बा भी नहीं था। मैं अल्यूमीनियम के डिब्बे में रोटी लाती थी। मैं लड़कियों के सामने आपने डिब्बा नहीं खोलती थी। मुझे अपने घटिया डिब्बे और घटिया रोटी को उनके सामने खोलने में शर्म आती थी। मैं दीवार की ओर मुँह करके खाना खाती थी ताकि कोई देख न ले। उनके खाने की खुशबू और खाना देखकर में ललचा जाती थी। सोचती थी, ऐसा खाना मुझे कब नसीब होगा[240]।'' लेखिका के साथ दो कुनबी जाति की लड़किया पढ़ती थी, वे काफी अमीर घरों से संबंध रखती थी। उनके पास अच्छी-साड़ियां पहनकर आती थी। परन्तु उनका परिवार पढ़ा-लिखा नहीं था। लेखिका लिखती है - ''मैंने चौथी कक्षा पास की और भिड़े कन्याशाला में ही पांचवी में प्रवेश किया। यह हाईस्कूल था। प्राइमरी को छोटी भिड़े कन्या और हाई स्कूल को बड़ी भिड़े कन्याशाला कहते थे। दोनों स्कूल अलग-अलग थे। दोनों में सिफ्र पांच मिनट आने-जाने में लगते थे। अब

[240] कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृ0 41

मेरी छोटी बहन भी भिड़े कन्याशाला में प्राइमरी में पढ़ने लगी थी। वह मेरे से दो कक्षा पीछे थी। तब भी उस प्राइमरी स्कूल में एक भी अस्पृश्य लड़की नहीं थी। पांचवी कक्षा में और छठी-सातवीं मं कुछ लड़कियां थी। उन्होंने कहीं से प्राइमरी पास किया था[241]।'' आगे पढ़ाई करने में भी लेखिका को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। लेखिका ने कॉलेज में दाखिला लिया तो यह बात बस्ती के लोगों तथा रिश्तेदारों का फूटी आंख न सुहा थी। ''मेरे बाबा की मौसेरी बहन का लड़का हमारे उपर बहुत जलता था। उसने अपने छोटे भाई के लिए मेरा रिश्ता मांगा था, परन्तु मां नहीं मानी। तब से वह हम लोगों को तरह-तरह से सताता रहता था[242]।'' बस्ती के कुछ गुंडे और कुछ हमारी प्रगति से जलने वाले लोग हमें तंग करने का मानो निश्चय कर चुके थे। बाबा की मौसेरी बहन का लड़का लोगों को भड़काने के लिए आगे रहता था। लेखिका के पिता ने जो पुरानी साइकिल लेखिका का खरीदकर दी थी ताकि वो कॉलेज जा आ सके| उसके लिए भी उन लोगों ने पूरा बवाल खड़ा कर दिया। उन्होंने लेखिका के परिवार पर रिपोर्ट दर्ज कराई कि लेखिका का जो साइकिल चलाती है वह चोरी की हुई है और यह भी इल्जाम लगाया कि उनके पास बिना लाइसेंस की पिस्तौल भी है। लेखिका ने इंस्पेक्टर को अपने हालातों के बारे में बताया - ''हमने उन्हे बस्ती के वातावरण

[241] वहीं, पृ0 44

[242] वहीं, पृ0 60

के बारे में बताया और कहा कि हम सब बहनें पढ़ रही हैं, इसलिए कुछ आवारा लड़के और कुछ हमारे रिश्तेदार, जिनका स्वभाव जलने का है, वे लोग हमारी प्रगति नहीं देख सकते इसलिए वे हमें तरह-तरह से सताते हैं। वह समझदार था। वह स्वयं तेली जाति का था। वह समाज भी बहुत पिछड़ा था इसलिए वह जानता था कि हमारी स्थिति क्या थी | वह हमारी बातें सुनकर समझ गया कि बस्ती के लोग हमें तंग करते है। उसने कहा कि अगर इसके बाद कोई आपको तंग करे तो हमें खबर करना। बाद में वह बीच-बीच में आकर हमें पूछ जाता था। उसका घर पर आना देखकर बस्ती के गुंडे सहम गए थे, ज्यादा तंग नहीं करते थे। हमारा रिश्तेदार इस घटना से और भी अधिक चिढ़ गया था। नए नए तरीके खोजता था हमें तंग करने के लिए। इसके चलते उसने एक और घटना को अंजाम दिया। बस्ती में कुछ दिन पहले एक बंगाली लड़का रहने आया था। उसने उसे अपनी तरफ कर लिया और एक नए तरीके से इन लोगों को तंग करने का उपाय निकाला। ‘‘उस बंगाली लड़के ने एक फोटोग्राफर के साथ मिलकर मेरे फोटो के साथ अपना फाटो बनवाया। फोटो में मैं कुछ लिखने के पोज में थी और वह मेरे पास खड़ा था। मैं और मेरी बहन कस्तूरी चंद पार्क से स्कूल जा रही थी, तब वह दौड़ा-दौड़ा आया और हमारे आगे वह फोटो धर दिया। मैं यह फोटो देखकर हैरान रह गई। वह बारबार मेरे आगे फोटो लेकर चलने लगा। मुझमें कहां से हिम्मत आई, पता नहीं। मैंनें अपने पांव से चप्पल निकाली और जोर से उसके गाल पर

दे मारी। वह थोडा सहम गया और दूर हटा, फिर भी फोटो आगे कर कुछ बड़-बड़ करता रहा। एक लड़के ने यह सब देखा। वह दौड़ा-दौड़ा आया और उसे पकड़ा और मैंने दो-तीन चप्पलें और उसकी पीठ पर मारी[243]।'' जब हम शाम को घर आए तो मैंने सारा वृतांत मां को सुनाया। मां आग-बबूला हो गई, परन्तु करती क्या। उन्होंने हमें हिम्मत से पढ़ने को कहा और बोली कि वे हमें तंग करके खुद ही चुप हो जाएंगे। इतना सब होने पर भी हमें तंग करने वालों के कलेजे को ठंडक नहीं मिली। उन्होंने उस बंगाली लड़के को पटा कर हमारे उपर कोर्ट में केस करवाया। उसने कोर्ट में अर्जी लिखाई और मेरे नाम से किसी से झूठे प्रेम-पत्र लिखवाए जो कोर्ट में पेश किए गए। केस झूठा था इसलिए वह बंगाली आदमी पेशी पर खड़ा नहीं हुआ और न ही उसका वकील आया। इसलिए केस खारिज हो गया। उसको भड़काने वाले भी पेशी के दिन भाग गए। इसके पश्चात बंगाली आदमी स्वयं ही समझ गया कि उसने बहुत गलती की थी। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि प्रस्तुत आत्मकथाकारों ने कड़े-संघर्ष के पश्चात् शिक्षा प्राप्त कर अपनी पहचान बनाई है। आधुनिक समय में भी दूर-दराज के अंचल में लड़कियों को पढ़ने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। लड़कियों की शिक्षा प्राप्ति में सबसे बड़ी समस्या है हर दिन होने वाला शारीरिक शोषण। दूसरी तरफ ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी लड़का-लड़की में भेद किया जाता है। और इसी भेदभाव के चलते सिर्फ लड़कों

[243] वहीं, पृ0 61

को ही शिक्षा प्राप्ति का अवसर दिया जाता है। और किसी कारणवश अगर किसी लड़की को यह अवसर प्राप्त हो भी जाए तो उन्हें अपने मन पसंद विषय या कोर्स चुनने का अधिकार नहीं मिलता। लड़कियों के परिवार-वालों के लिए लड़की की शिक्षा उसके व्यक्तित्व के विकास उसके आत्मनिर्भर एवं जागरूक बनना नहीं अपितु शादी के लिए अच्छे वर की तलाश ही लेता है। इसलिए अधिकतर लड़कियों को इसी उद्देश्यपूर्ति के लिए पढ़ाई को छूट मिलती है। आज शिक्षा-व्यवस्था में स्त्रियां निरंतर शोषण की शिकार हो रही हैं या अपमानित की जा रही हैं| यह अत्यंत चिंता का विषय है।

अन्धविश्वास -

अंधविश्वास अशिक्षा का ही परिणाम है। ग्रामीण क्षेत्र आज भी महानगरो, बड़े-बड़े शहरों की तुलना में शिक्षा के स्तर और प्रतिशत में बहुत पीछे है। इसलिए गांव की अधिकांश मानसिकता आज भी अशिक्षा के दायरे में अंधविश्वासों से जुड़ी है।

3.1.3 **पुरुषप्रधान व्यवस्था से टकराव** -

पितृसत्ता से टकराव क्यों और कैसे होता है इसको जानने से पहले हम पितृसत्ता के अर्थ एवं स्वरूप का जानना अनिवार्य है। आखिरकार ये पितृसत्ता क्या है जो सदैव से स्त्रियों को हाशिये पर धकेलती आ रही है। पितृसत्ता से आशय पितृ की सत्ता से है। पितृसत्ता शब्द दो शब्दों के मेल से बना है - पितृ + सत्ता - पिता की सत्ता या शासन। जहाँ परिवार में सत्ता पिता के हाथों में होती है। घर

के हर छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े निर्णय लेने का अधिकार पुरूष के पास होता है। पिता के बाद उसका बेटा घर मेंसत्ता संभालने का कार्य करता है। फिर बेटे का बेटा सत्ता संभालता निरन्तर यही क्रम चलता रहता है। और सत्ता एक पुरूष के हाथ से हस्तांतरित होकर दूसरे पुरूष के हाथ में चली जाती है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि परिवार बाहर के सब प्रबंधन पर पुरूषों का ही वर्चस्व होता है यहां स्त्रियों के लिए कोई अधिकार नहीं है।

जब मनुष्य अपने आदिम रूप में था उस समय विवाह का प्रचलन नहीं था। तब भी औरतें गर्भाधारण करती थी। उस समय पिता का आधार निश्चित नहीं था इसलिए उस समय बच्चे के पालने-पोषने को जिम्मेदारी माता पर ही रहती थी। बच्चे पर प्राथमिक आधार माता का ही रहता था। समय परिवर्तन के साथ इस स्थिति में भी बदलाव आया और जो अधिकार माता का प्राप्त थे उन पर पिता का अधिकार हो गया। अब स्त्री केवल एक भूमि बन कर रह गई जिसका अस्तित्व पुरूष रूपी बीज के बिना अस्तित्व शून्य हो गया। और हयी कारण रहा है कि आज भी वंश माता के नहीं अपितु पिता के नाम से चलता है और स्त्री घर स्वामिनी तथा घर चलाने वाली संचालिका मात्र रहती है अधिकार सुख के साथ ही कर्तव्यदायित्व भी पिता, पति या बेटे का होता है। इसी पक्षपाती व्यवस्था के प्रति विरोध दर्ज करती हुई तसलीमा नसरीन कहती है - ‘‘महिलाओं की बराबरी की बात करती हूँ। हर क्षेत्र में। यह क्या बात है कि महिला पुरूष की गुलामी करे तभी सामाजिक संरचना स्वस्थ रहती है। यह पुरूष समाज द्वारा फैलाई गई

मिथ्या धारणा है। सदियों से औरत दबी रही, अब अपना हक मांग रही है तो कहते हैं सरंचना गडबड़ा जाएगी। यह सब बकवास है[244]।'' उल्लेखनीय तथ्य यह कि मातृसत्तात्मक व्यवस्था में परिवार की मुखिया स्त्री होती थी परन्तु इसे पितृसत्ता जैसी कोई चीज या उसकी ठीक विपरीत व्यवस्था नहीं समझना चाहिए। पुरुषप्रधान व्यवस्था ने जिस प्रकार स्त्री के शरीर पर उसके सतीत्व पर उसके श्रम पर पुरूष का नियत्रंण होता है उसी तरह पुरूष के शरीर, उसके शरीर उसके पुरूषत्व उसके श्रम पर कभी नियंत्रण नहीं रहा। सच तो यह है कि पुरुषप्रधान व्यवस्था पहले की किसी अवस्था या व्यवस्था का 'अवशेष' नहीं है। इसके अलावा पितृसत्ता के तल वैचारिक मानसिक या सांस्कृतिक स्तर की चीज नहीं समाज के आधार की चीज है जिसका उत्पादन के तरीकों एवं प्रणाली से भौतिक संबंध है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यह परम्परा कोई पुराने जमाने से चली आ रही परम्परा नहीं है कि हमारे यहाँ पुरूष का स्थान हमेशा ऊँचा तथा स्त्री का स्थान हमेशा दोयम दर्जे का रहा है। बल्कि सच्चाई तो यह हैं दो आधी-आधी दुनियाओं के लिए डर और विशेषाधिकार का पर्याय बन चुकी पुरुषप्रधान व्यवस्था अपनी मूल संकल्पना में स्त्री पुरूष दोनों के लिए शोषक एवं उत्पीड़न है। इसी संदर्भ में डॉ. रोहिणी अग्रवाल लिखती है - ''विषमता का प्रसार करते हुए यह सबसे पहले दोनों से 'मनुष्य होकर जीने की स्वतंत्रता छीन' लिंग में तबदील कर देती है और फिर लिंग के चारों ओर मिथकीय संसार रच कर उन्हें कठपुतलियों

[244] लेखन, संपादन व अनुवाद: मुनमुन सरकार, तसलीमा का संघर्ष, पृ0 70-71

की तरह जीने को विवश करती है। पुरुषप्रधान व्यवस्था की स्मृति में यदि मातृसत्तात्मक व्यवस्था का स्वर्णिम इतिहास न होता तो संमवतया पुरूष की पक्षधरता के तह स्त्री के प्रति इतना विद्वेषी न होती[245]।''

पुरुषप्रधान व्यवस्था में पुरूष सामंतीदृष्टि से आचरण करता है। यह निरंकुश भाव से अपने अहम् की अभिव्यक्ति करता है। उसकी अवधारणा में स्त्री का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। स्त्री जिस भी पुरूष के अधीन होती है वहीं उसका सामाजिक आर्थिक संदर्भ होता है। यह व्यवस्था लिंग भेद पर अधारित व्यवस्था है इसी लिए धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, स्त्रियों को प्रभावहीन और अस्तित्व हीन बना देते है। अतः सारे स्त्री विमर्श और आंदोलनों के पश्चात् भी स्त्री अधूरी अनिश्चत तथा अपरिभाषित रह जाती है। इसलिए 'दोषी पुरूष नहीं बल्कि वह पुरुषप्रधान व्यवस्था है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरूषों को केवल एक ही पाठ पढ़ाती है िक वह अधिकारपूर्ण है जबकि स्त्रियों उनसे हीन एवं निम्न है और उनके भोग का साधन है। इसी कारण परिवार में पुरूष स्वयं को श्रेष्ठ समझने के अंह भाव से ग्रस्त कर लेता है। वरिष्ठ पत्रकार राजकिशोर का कहना है - ''भारतीय पुरूष-समाज स्त्री को आनंद और उपभोग की वस्तु से अधिक कुछ नहीं मानता। वह वस्तु उसके अधिकार में रहनी चाहिए। किसी ओर के पास चली जाने से उसकी तौहीन होती है। इसी आशंका और डर का मरा पुरूष स्त्री के लिए कडे से

[245] सम्पादक शैलेन्द्र सागर, कथाक्रम, पुरुषप्रधान व्यवस्था के विद्रूप और स्त्री लेखन, अक्टूबर-दिसम्बर 2005, पृ0 86-87

कड़े पहरे और मृत्यु की व्यवस्था करता रहा है[246]।'' पितृसत्ता ने स्त्री को घर में कैद कर दिया है इसलिए स्त्री का मुक्ति संघर्ष अधिक जटील बन गया है। आज स्त्री का मानस कितने छोटे-छोटे मुद्दों में जकडा हुआ है, इसका हमें अंदाजा नहीं। यह व्यवस्था स्त्री के आत्मविश्वास को तोड़ते हुए उसके भय का संचार करती है। उसके भीतर कुंठा, अपराधबोध तथा हीनभावना पैदा करती है। यही कारण है कि स्त्री ने जितनी कानूनी और सांस्कृतिक बाधाओं को पार किया है उतना ही अधिक वह उपभोक्तावादी संस्कृति की गुलाम हुई है। इसका कारण है कि आज स्त्री की समस्याओं का भी आधुनिकीकरण किया जा चुका है। आधुनिकता के नाम पर भ्रम पैदा किया है पितृसत्ता और कारपोरेट पूंजी जगत की मिलीभगत स्त्री को उसके वास्तविक संघर्ष से भटका रही है। अभय दूबे का मानना है कि - ''भूमंडलीकरण ने पितृसत्ता के कुछ नए रूप रचे। उसने परम्परा और धर्म के अलावा आर्थिक आधुनिकीकरण और वैकासिक आग्रहों को भी नई पितृसत्ता का जनक बना दिया जबकि कभी इन दोनों को औरत की आजादी का सम्मानित जरिया माना जाता था। इस तरह भूमंडलीकरण के तहत पितृसत्ता और मजबूत हो गई[247]।''

स्त्री चेतना की मुख्य चिंता पुरुषप्रधान व्यवस्था होती है। यह प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में एक जैसी नहीं होती। एक ही समय और एक ही समाज में भी

---

[246] सम्पादक राजकिशोर, रंगी परम्परा और आधुनिकता, पृ0 168

[247] सम्पादक राजेन्द्र यादव, प्रभा खेतान: अभय कुमार दुबे: पितृसत्ता के नए रूप, पृ0 63

वह एक जैसी नहीं होती। शिक्षित-अशिक्षित, निम्न, मध्यवर्गीय तथा घरेलू स्त्रियों, सभी को पितृसत्ता एक ही प्रकार से प्रभावित नहीं करती। इसलिए पितृसत्ता को केवल स्त्री शोषण तक ही सीमित नहीं किया जा सकता बल्कि वर्ग और जाति के प्रश्नों से भी जोड़ा जाना चाहिए। स्त्री चेतना तो इसकी कागुजारियों को समझने का एक तरीका है, सच में पुरुषप्रधान व्यवस्था एक प्रकार की असमानता एवम् पुरूष पक्षपाती ढांचा है। इसका एक प्रमुख कारण अरविन्द जैन बताते हुए कहते है - ‘‘जब तक पूंजीवादी समाज में व्यक्तिगत संपति के उत्तराधिकार के लिए वैध पुत्रों की अनिवार्यता और परिवार में पुरूष का अधिनायकवादी वर्चस्व बना रहेगा, तब तक स्त्री की अस्मत और अस्मिता, अस्तित्व और व्यक्तित्, अधिकार और अभिव्यक्ति, समानता और सम्मान का हर संघर्ष अधूरा और सारे घोषणा पत्र बेमानी है। इस ढांचे में परिवर्तन होता रहता पर यह ढांचा पूर्ण रूप से टूटता नहीं है। जिस प्रकार वर्ग और जाति आधारभूत वास्तविकताएं हैं, उसी तरह पितृसत्ता भी एक आधारभूत वास्तविकता है। इसका अर्थ यह कि समाज में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ इसमें भी बदलाव आता है और यह नये-नये रूप धारण कर लेती है। पुरुषवादी व्यवस्था में पुरूषवादी स्वरूप के कारण स्त्रियों को अनेक मोर्चों पर शोषित होना पड़ता है। पत्नी के रूप में औरत एक निष्क्रिय सैक्स पार्टनर है तथा विताहेतर संबंधों के लिए उनकी संतुष्टि को शांत करने का साधन मात्र है। ऐसा लगता है जैसे इस व्यवस्था ने स्त्री के पास कोई विकल्प छोड़ा ही नहीं। सीमोन द बोउवार, एलिस श्वेर्जर के साथ एक साक्षात्कार में कहती

है - ‘‘पुरूष प्रभुत्व वाले समाज में पुरूषों के भीतर अपनी श्रेष्ठता और उच्चता का बोध कूट-कूटकर भरा हुआ है। उनके मनोजगत की निर्मिति पुरूष वर्चस्व की जमीन पर हुई है और वे आसानी से इस विशेषाधिकार का परित्याग करने को तैयार नहीं। यह सांस्कृतिक जकड़न इतनी गहरी है कि बहुत कम ही औरतें लैंगिक असमानता के खिलाफ आवाज उठा पाती हैं[248]।’’ फिर भी यह निश्चित है कि सत्तर के बाद का स्त्री लेखन पुरुष प्रधान सामाजिक व्यवस्था के विद्रूपों से सीधी टक्कर ले रहा है। स्त्री को कुलटा, पतिता, चरित्रहीन जैसे विशेषण पुरुषवादी व्यवस्था ही प्रदान करती है। इस संदर्भ में तसलीमा नसरीन का कहना है - ‘‘दुनियां के इतिहास में, किसी भी अंधेरे समाज में जब कोई औरत पुरूषतत्रं के खिलाफ उठी है, जिसने भी अपनी आजादी की आवाज उठाई है, गुलामी की जंजीरे तोड़ने की कोशिश की है, उसे ही ‘पतिता’ कहकर धिक्कार दिया गया है[249]।’’ इस सामाजिक व्यवस्था की आड़ लेकर स्त्री को लज्जालु होना सिखाया जाता है। क्योंकि स्त्री के भयभीत होकर लज्जालु होने पर ही पुरूष उस नियन्त्रण रख सकता है| यह व्यवस्था पुरूष के कोमल, मानवीय तथा संवेदशील पक्ष को भी खत्म करती है। इसलिए जाने अनजाने वह भी शोषण का शिकार है - ‘‘पुरुषप्रधान समाज स्त्री और पुरूष दोनों का सम्यक् विकास अवरूद्ध करता है, दोनों का जीवन

[248] सीमोन द बोउवार, स्त्री के पास खोने के लिए कुछ नहीं है, पृ. 38 (अनुवाद मनीष पांडे)

[249] तसलीमा नसरीन, छोटे-छोटे दुख, पृ0 250

विषाक्त करता है| एक को भेड़ और दूसरे को भेड़िया बना डालता है तो दोनों ही मानवीय गरिमा से नीचे गिरते हैं[250]।''

परिवार संस्था -

समाज का प्रमुख केन्द्र परिवार होता है| परिवार में ही मनुष्य की सामाजिक क्रियाएं आरम्भ होती है एवं परिवार में ही उसका विकास होता है, इसलिए परिवार महत्त्वपूर्ण संस्था है। डॉ. वेणी प्रसाद ने कहा है कि - ''परिवार व्यक्ति से भी अधिक प्राचीन है[251]।'' परिवार शब्द संस्कृत भाषा से गृहीत तत्सम शब्द है। परिवार शब्द 'परि' उपसर्गपूर्वक 'वृञ्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न है। जिस प्रकार राजा को सामन्त व परिचारक घेरे रहते थे, वह जनता का पालन-पोषण करता था। स्त्री, पुरूष, बच्चे सब राजा पर आश्रित रहते थे। उसी प्रकार घर में भी एक मुखिया या संचालनकर्ता होता है जिसके आश्रय में परिवार का पालन-पोषण होता है। अंग्रेजी में परिवार का पर्याय फैमिली उपलब्ध है।

''फैमिली शब्द की व्युत्पति लैटिन भाषा के शब्द फ़ैम्से से हुई है जिसका अर्थ होता है सेवक। मराठी, हिन्दी, गुजराती और बंगला में परिवार शब्द के अर्थ का विकास की फैमिली शब्द के सदृश ही हुआ है।'' इस प्रकार परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जहाँ सभी परस्पर सेवाभाव रखते हुए एक-दूसरे के साथ रहते हैं।

---

[250] संपादक राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, पृ0 164

[251] मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में अभिव्यक्त समाज, डॉ० कल्पना पटेल, पृ0 57

परिवार व्यक्ति से भी अधिक प्राचीन है। व्यक्ति का जन्म परिवार में होता है। मनुष्य के लिए परिवार प्राकृतिक है। व्यष्टि-समष्टि के बीच का सेतु परिवार ही है। अतः परिवार से समाज और समाज से देश का स्वरूप निर्मित होता है। भारतीय समाज में दो प्रकार के परिवार होते है -

1. **संयुक्त परिवार** –

संयुक्त परिवार में परिवार के सभी सदस्य जैसे दादा-दादी, काका-काकी, माता-पिता, विवाहित-अविवाहित, बच्चे, बड़े, भाई-बहन सब एक साथ रहते हुए परिवार का हिस्सा होते है। संयुक्त परिवार में सभी एक साथ रहते है। इसलिए परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होती है। आधुनिकता के कारण आजकल संयुक्त परिवार टूट रहे है।

2. **एकल परिवार** –

जिस परिवार में पति-पत्नी और उनकी अविवाहित संतानें रहती है तो वह एकल परिवार कहलाता है। विवाह के पश्चात् संतानें परिवार से अलग होकर एक नए परिवार का निर्माण करती है। आजकल परिवारों की संख्या में दिन-प्रतिदिन बढ़ोतरी होती जा रही है। पश्चिमी समाज की यह देन आज भारतीय नगरीय समाज में बहुतायत से देखने को मिलती है।

संयुक्त परिवार और स्त्री -

परिवार से बाहर होने वाले शोषण दमन, हिंसा, लूट से बचने के लिए मध्यवर्गीय स्त्री 'घरेलू गुलामी' को स्वीकार करती है, लेकिन संयुक्त परिवारों में भी उसका शोषण, उत्पीड़न, कम नहीं है। मौजूदा परिवार का ढांचा मनुवादी सोच पर टिका हुआ है। इसी ढांचे की परम्परागत सोच और होने वाले शोषण को अपनी आत्मकथाओं में अभिव्यक्त किया है। कृष्णा अग्निहोत्री ने भी शादी के पश्चात् के शुरूआती दिनों में संयुक्त परिवार की कटु अनुभवों को प्राप्त किया। जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' में अभिव्यक्त किया है। एक तरफ पति का झूठा सामंती चरित्र तथा दूसरी तरफ घर का तंग माहौल लेखिका के जीवन को असहनीय बना डालता है। लेखिका की सास लेखिका को ही गलत ठहराने के कारणों की खोज में लगी रहती और अपने बेटे की गलती होने पर उपर पर्दा डालती रहती। मौजूदा परिवार संस्था के स्वरूप पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए कृष्णा अग्निहोत्री पूछती है - ''लड़की से ही केवल यह आशा की जाये कि वह अनेक नये व्यक्तियों से समझौता कर उनकी आदतों व्यवहार से सामंजस्य बैठाये तो यह स्वाभाविक नहीं, आखिर सारे समझौते, बदलाहट की आशा एकतरफा क्यों[252]?'' संयुक्त परिवारों में सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण धन-सम्पदा को लेकर भी स्त्री शोषित होती रहती है। इस आत्मकथा में यह भी दर्शाया

[252] कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ0 87

गया है कि लेखिका की सास में एक डर निरन्तर काम करता रहता है कि उनके बेटे को अपनी पत्नी के रूप, गुण की पहचान न हो जाये, वरना बेटा अपनी मां व परिवार की इच्छित आर्थिक संभावनाओं की पूर्ति नहीं करेगा।

'अन्या से अनन्या' आत्मकथा में भी नफीसा नामक लड़की को घर की चार दीवारी मौत के मुंह तक पहुंचा देती है। प्रभा खेतान ने उसकी हालत के बारे में बताया - ''नफीसा भूखी रहती थी। नफीसा का भाई आलमगीर सारे पैसे दारू की भट्टी में झोंक आता, इधर भाई, तो उधर सास, एक ही घर में रहते हुए बेचारी नफीसा पैसे-पैसे के लिए मोहताज रही बस दम तोड़ दिया उसने[253]।'' लेखिका की मां भी सारा दिन बच्चों को डांटती रहती हैं तथा अपनी किस्मत को कोसती रहती है। आत्मसम्मान की कभी मुख्यतः संयुक्त परिवार की अशिक्षित स्त्रियों का स्थायी भाव है जिनमें प्रभा खेतान की मां भी शामिल है। इसका कारण यह है कि पुरूष प्रधान परिवार में स्त्रियों के उपर घर के काम के अलावा अन्य कोई सामाजिक आर्थिक दबाव अथवा जिम्मेदारी नहीं होती। अतः उनका जीवन निष्क्रिय बना रहता है और धीरे-धीरे अपनी इस स्थिति की स्त्रियाँ आदी हो जाती है। एकल परिवार संस्था एवं स्त्री एक परिवार में रहते हुए कृष्णा अग्निहोत्री को कभी सुख का अनुभव नहीं हुआ। पति की अय्याशियों साहित्य जगत की कुटिल राजनीति और स्वयं अपनी महत्त्वकांक्षाओं के कारण लेखिका को आर्थिक,

[253] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ0 7

मानसिक उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा। यह आत्मकथा बताती है परिवार में स्त्री के स्वतंत्र होकर सच बोलने का अर्थ है उत्पीड़न या विच्छेद।

'कस्तूरी कुंडल बसै' आत्मकथा में एकल परिवार में स्त्री के संघर्ष को दर्शाया गया है। कस्तूरी गांव के रूढ़िवादी परिवार की सरहदों को पार करके नौकरी करती है अकेली यात्राएं करती हैं अपनी बेटी मैत्रेयी को पढ़ाती है। साथ-साथ मैत्रेयी में परिवार संस्था की गलत मान्यताओं के प्रति विद्रोह की भावना पैदा करती है। कस्तूरी भारतीय परिवार संस्था के इस अघोषित नियम को तोड़ती है कि स्त्री पुरूष के साथ ही कहीं बाहर जा सकती है, एवम् उस पर पति या ससुर का साया आवश्यक है। कस्तूरी में बचपन से लेकर ससुराल तक सफर में विद्रोह साफ दिखायी देता है। अगर कोई कुछ कहता है तो कस्तूरी साफ-साफ बोलती है - ''अब मैं अपनी जिन्दगी और बेटी की नन्हीं जान को लेकर ही सोच पाती हूँ। मुझे लोग धिक्कार रहे हैं जानती हूँ, पर कैसे समझाऊँ कि मेरे सामने आने वाले दिन बाघ की तरह मुंह फाड़े खड़े हैं। हर हाल में सामना करना होगा[254]।'' मन्नू भंडारी भी 1994 से अलगाव को झेलती आ रही है। स्थापित रचनाकारों का अहम् दोनों को कटघरे में खड़ा कर देता है। मन्नू अपने पति राजेन्द्र यादव पर आरोप लगाती है कि वह एक गैर जिम्मेदार पति और पिता है, वहीं दूसरी तरफ राजेन्द्र यादव भारतीय परिवार संस्था के विघटन को अनिवार्य समझते है क्योंकि इसका

[254] मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुंडल बसै, पृ0 25

आधार सामन्ती व्यवस्था है| लेकन मन्नू खुद राजेन्द्र यादव को भी सामन्ती पुरूष बताते हुए लिखती है - ''सामन्ती संस्कारों से आते-प्रोत इस पौरूषीय अहं की कचोट को मैं समझती नहीं होऊँ, यह बात नहीं थी, पर उसका निवारण मेरे पास नहीं, राजेन्द्र के अपने पास था[255]।'' यह आत्मकथा इस सच्चाई को बखूबी चित्रित करती है कि परिवार में पुरूष प्रधान समाज स्त्रियों का खुलापन सहन नहीं कर पाता। इस समाज में पुरूष सदैव इस अवसर की तलाश में रहते हैं कि वह अपने पक्ष को सही साबित करने हेतु पत्नी पर चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दें। घर के मामलों में कौसल्या बैसंती का पति उसे शामिल नहीं करता। लेखिका के गर्भवती होने की सूचना पाकर भी वह उसे अकेली छोड़कर चला जाता है। अपने पारिवारिक जीवन के बारे में बताते हुए लेखिका लिखती है - ''पैसे देवेन्द्र कुमार अपनी अलमारी में ताले में बंद रखता। कभी कोई बात पूछने पर दस मिनट तक तो कोई उत्तर ही नहीं देता। बहुत लड़-झगड़कर उसने मुझे चालीस रूपये महीने देना शुरू किया, जैसे मैं वहां इनके घर की नौकरानी हूँ[256]।'' वास्तव में, कस्तूरी, मन्नू भंडारी आदि लेखिकाओं ने परिवार संस्था के स्वरूप को एक स्त्री की दृष्टि से परिभाषित करने का प्रयास करते हुए परिवार में पुरूष प्रभुत्व को नकार दिया है। इनसे दो कदम आगे जाकर प्रभा खेतान ने वर्तमान समय में परिवार संस्था के गल-सड़ चुके ढांचे को अस्वीकार करके अकेले रहने का निर्णय लिया। अनामित्र

[255] मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ0 58

[256] कौसल्या बैसत्री, दोहरा अभिशाप, पृ0 104-105

की मान्यता है - ''भारतीय पुरूषों के लिये अकेले डेरे की बात कुछ नयी नहीं है। पर स्त्रियों का परिवार के संरक्षण के बाहर पति से वियुक्त रहते हुए नौकरी करना और पारिवारिक संबंधों की अंतर्व्यस्था निभाये चलना अपेक्षाकृत नयी घटना है[257]।''

यह भी नहीं है कि परिवार संस्था में स्त्री का शोषण ही होता है। अगर परिवार में सदस्य अच्छे और खुले विचारों के हो तो उसी परिवार का संबल पाकर स्त्री कामयाबी के शिखर को छू सकती है। कुछ महिला रचनाकारों का पारिवारिक जीवन सुख-सुविधाओं में बीता है। पद्मा सचदेवा को सदैव परिवार का साथ मिला। पति सुरेन्द्र सिंह ने प्रत्येक कदम पर लेखिका का साथ दिया है। बीमारी से लकेर साहित्यिक समारोहों तक वो लेखिका का हौंसला बढ़ाते रहे हैं। पद्मा सचदेव स्वयं कहती है - ''शाम को जब मैं आती तब में दोस्तों के साथ घूमने जाते। मैं अपनी सास के साथ बहुत खुश थी। मेरी दो ननदें चूंकि दिल्ली में ही थी, वो भी अक्सर आती। भगवान की दया से इनके घर में कोई भी पुरातनपंथी न था[258]।''

सार रूप में कहा जा सकता है कि स्त्री का सम्पति में हिस्सा न होना और उसे एक खास प्रकार की असुरक्षा और कृपा बनाये रखना, इस प्रवृति ने भारतीय पारिवारिक व्यवस्था में परिवर्तन नहीं होने दिया। धर्म के नाम पर, संस्कृति के

---

[257] अनामिका, पानी जो पत्थर पीता है, पृ0 268

[258] पद्मा सचदेव, बूंद-बावड़ी, पृ0 268

नाम पर अस्मिता, मर्यादा के नाम पर इस स्थिति को बनाए रखने की सबसे बड़ी जगह परिवार है, जो कि सामाजिक परिवर्तन का स्त्री संदर्भ में विरोधी है।

3.1.5 **महिलाओं पर पुरूष का वर्चस्व**

आदिकाल से ही महिलाओं पर पुरूष का वर्चस्व रहा है। मध्यकाल के दौरान महिलाओं संबंधी बुराईयाँ समाज में फैली जिनका दंश आज भी स्त्री झेल रही है| इन सभी समस्याओं में पुरूष ने बड़ी चालाकी से महिला को मानसिक रूप से अपंग बना दिया| जिस कार्य में उनका सबसे अधिक योगदान विवाह संस्था ने किया।

विवाह संस्था -

विवाह एक संस्था भी है और एक संबंध भी। संस्था इस रूप में कि हमारे समाज का सामाजिक ढांचा इस पर खड़ा होता है। लेकिन यह एक संबंध भी है जो दो इंसानों के मध्य बनता है। मौजूदा विवाह संस्था स्त्री के लिए संबंध से अधिक बंधन है, क्योंकि संबंध में समानता का भाव निहित होता है। विवाह संस्था में पुरूष की बजाय स्त्री को कम अहमियत दी जाती है। उसकी इच्छा-अनिच्छा कोई मायने नहीं रखती है। यहां तक कि जो लोग प्रेम-विवाह करते है उनमें विवाह से पहले समानता का भाव दिखाई देता है परन्तु वे जैसे ही वैवाहिक बंधन में बंधते हैं, वैसे ही वह प्रेम संबंध परम्परागत विवाह संबंध में परिवर्तित हो जाता है। इसलिए विवाह संस्था को तोड़ने या नकारने की बजाय उसमें संबन्धों की

परिकल्पना को बदलना अनिवार्य हो जाता है। और यह परिवर्तन तभी होगा जब विवाह संबंधों में कानूनों तथा सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं में बदलाव होगा। जब तक परिवार और समाज में विवाह से बनने वाले संबंधों में बराबरी का भाव उत्पन्न नहीं होगा, तब तक विवाह संस्था में परिवर्तन मुश्किल है। भारतीय विवाह संस्था में प्रमुख दोष यह है कि इसमें बराबरी जैसा रिश्ता नहीं होता क्योंकि यह असमानता पर आधारित ढांचा है और प्रमुखतः गैर बराबरी की संस्था है जिसमें पुरूष का पक्ष सदैव भारी रहता है। कुछ महिला रचनाकारों ने परम्परागत तरीके से विवाह और कुछ ने प्रेम विवाह किया है। यह आवश्यक नहीं मां-बाप द्वारा तय की हुई शादी में लड़की को सुख प्राप्त हो। कृष्णा अग्निहोत्री ने भी परम्परागत तरीके से विवाह किया। कृष्णा अग्निहोत्री का वैवाहिक जीवन दुखों अपमान से भरा हुआ। इसका कारण लेखिका का पति है जो बात को पूरी तरह समझने की बजाय तथा स्वयं अपनी गलती पर पश्चाताप करने की अपेक्षा पत्नी को डाटना जरूरी समझता है। अपने पति के अमानवीय व्यवहार के बारे में कृष्णा अग्निहोत्री का कहना है - ''इन्होंने एक ओर छत पर बुला डांटा, तुम बहू हो, ढंग से बात करो वरना अच्छा न होगा। मुझे आज भी यही अहसास होता है कि जीवन तो नर-नारी दोनों का एक सा ही बीतना चाहिए, उसमें तानाशाही की कालिख संबंध को अंधेरा बना देती है। मैं दो पल इन्हें ताकती रही जिनकी दृष्टि में कोई अपनापन, आत्मीयता न होकर अहं व गर्व झलक रहा था[259]।'' पति ने नौकरी

[259] कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ0 85

छोड़कर कृष्णा अग्निहोत्री के वैवाहिक जीवन ओर व्यक्तिगत मुश्किलों की ओर भी बढ़ा दिया। वैवाहिक जीवन में लेखिका की कोमल संवेदनाएं निरन्तर आहत होती हैं। पति के असहयोग के कारण तथा भाई द्वारा बहन को सम्पति के लिए रिश्ते खत्म करने की धमकी के कारण, कृष्णा अग्निहोत्री को नौकरी करते हुए अपनी बच्ची को पालना पड़ा।

विवाह संस्था में जो समान रूचियां, शौक, साहित्य या अन्य उपक्रम स्त्री-पुरूष के बीच परिचय और घनिष्ठता के सेतु बनाते हैं, पति-पत्नी होते ही सबसे पहले बलि उन्हीं की होती है| अक्सर यह त्याग पत्नी को करना पड़ता है क्योंकि संबंधों और जिम्मेदारियों का हजारों साल पुराना ढांचा बीच में आ जाता है जिसमें दोनों तरफ से हावी होने की प्रवृति सिर उठाने लगती है। विवाह संस्था भारतीय समाज में स्त्रियों को गौरववान्वित करने का रहस्यमय वातावरण बनाती है किन्तु उसका रहस्योद्घाटन करने पर उसके नए अर्थ सामने आने लगते है। बाहरी दुनिया में स्त्री स्वयं को साबित करने की इच्छा रखती है। घर, परिवार, नौकरी बच्ची के कारण मन्नू भंडारी की लिखना बंद होता गया लेकिन इसके विपरीत राजेन्द्र यादव लिखते गए और सफलता की सीढ़िया चढ़ते गये। वह स्वयं को घर की हर जिम्मेदारी से मुक्त कर लेते हैं। किन्तु घर से मिलने वाले अधिकार तथा सुविधाओं को छोड़ना नहीं चाहते। वे विवाह संस्था को अप्रासंगिक मानते है लेकिन अंत तक तलाक नहीं लेना चाहते। मन्नू भंडारी का सरकारी पैसा लेकर पहाड़ों पर रहने चले जाते हैं। मन्नू भंडारी घर, बेटी रचना को प्राथमिकता देती हैं और राजेन्द्र यादव

से उम्मीद करती है घर में रहने और भावनात्मक सहयोग की| पन्तु राजेन्द्र यादव लेखन और बाहरी संबंधों के साथ दोस्तों को जरूरी मानते हैं। दोनों बौद्धिक इतने हैं कि हर हाल में अपने को ठीक घोषित करते रहते हैं। मन्नू भंडारी को वैवाहिक जीवन अन्तर्द्वन्द्व में घिरा रहा। पहले से ही सब कुछ स्पष्ट था फिर भी लगभग 35 वर्ष लगे दोनों का अलग होने में। दोनों का विवाह संस्था के संबंध में, दोनों का नजरिया और विचार अलग-अलग है। 'मीता' नामक युवती से राजेन्द्र के प्रेम-प्रसंग भी टकराहट का कारण बना। मन्नू भंडारी का राजेन्द्र यादव के बारे में मानना है कि - ''राजेन्द्र के प्यार और अंतरंगता की सीमा में कोई नहीं हो सकता सिवाय खुद राजेन्द्र के। हकीकत तो यह है कि आत्म-केन्द्रित और आत्म-तोष के खोजी राजेन्द्र ने जिन्दगी में न अपने सिवाय किसी को प्यार किया, न कर सकते हैं[260]।'' लेखिका स्वयं भी इस अन्तर्द्वन्द्व की शिकार रही है। इसी कारण व खुद को कोसती रही। लेखिका होने के बावजूद भी विवाह संस्था में मन्नू भंडारी परम्परागत पत्नी ही साबित होती है। उन्हें राजेन्द यादव की जीवन शैली पसंद नहीं जिसमें बाहरी स्त्रियाँ, संबंध और सरोकार शामिल है। राजेन्द्र यादव के दृढ़ जिद्दी व्यक्तित्व को न बदल पाने का रंज, गुस्सा एवं भीतरी कुंठा बनकर मन्नू भंडारी की जुबान पर आता रहता है - ''मैं न तो आधुनिक जिन्दगी के इस पैटर्न से सहमत हो सकती थी, न ही इस बंटवारे से। प्रतिरोध का तो मेरे पास एक ही हथियार था -

[260] मन्नू भडारी, एक कहानी यह भी, पृ0 206

मेरी जुबान ओर आज इसे कबूल करने में मुझे कोई संकोच भी नहीं कि उसमें छूरी-कांटे उग आए थे। मैं गुस्से में भरकर कहनी-अकहनी सब सुनाती थी, जिसे बिना प्रतिवाद किए राजेन्द्र चुपचाप सुनते रहते थे[261]।'' परम्परागत भारतीय पत्नी की तरह दुखी होते हुए भी उन्हाने जीवन का एक लम्बा हिस्सा राजेन्द्र यादव के साथ ही गुजारा। जबकि यह सच्चाई है कि विवाह के कुछ समय बाद ही वे अपने पति के स्वभाव को जान चुकी थी। ''नहीं जानती इसे अपना धैर्य कहूँ, बेशर्मी कहूँ या कौन जाने मेरे मन में राजेन्द्र के प्रति लगाव के कुछ ऐसे सूत्र बचे हुए थे जो इतना सब बर्दाश्त करने के बाद भी टूटते नहीं थे और मैंने राजेन्द्र के साथ एक निहायत ही असन्तुलित जिन्दगी जीते हुए पूरे तीस साल गुजार दिए[262]।'' कौसल्या बैसंती के वैवाहिक जीवन का अंत भी तलाक में होता है। उनका जीवन पति के साथ लड़ने-झगड़ने और अपने अधिकारों को प्राप्त करने में ही व्यतीत हो गया। आज वे अपने छोटे बेटे के साथ मद्रास में रहती है, देवेन्द्र कुमार सम्पति में जो हिस्सा तलाक होने पर पत्नी के हिस्से में आया उसे भी समय पर नहीं देता। अपने शिक्षित पति के बारे में लिखते हुए कौसल्या बैसंती कहती है - ''देवेन्द्र कुमार को स्वतंत्रता सेनानी का ताम्रपत्र मिला और पेंशन भी मिलती है। सरकार ने उसके कार्य की प्रशंसा की थी किन्तु यही व्यक्ति अपने घर में लड़ाईई करता था। पत्नी को एक पैसा भी नहीं देता, उसके द्वारा घर का सारा काम करने पर

---

[261] वहीं, पृ0 52

[262] वहीं, पृ0 164

भी जो चालीस रूपये मेरा जेब खर्च नियत किया था उसे भी बंद कर दिया[263]।'' रमणिका गुप्ता भी वेदप्रकाश से प्रेम-विवाह करने के लिए अंत तक घरवालों के समक्ष अड़कर खडी। निर्णायक समय में लेखिका का हौंसला कम नहीं हुआ। विवाह के पश्चात् जीवन में आये संघर्षों का सामना उन्होंने खुद डटकर किया। किसी भी बात पर माता-पिता का सहारा नहीं लिया। उन्होंने विवाह अपनी पसन्द से किया था तो जीवन में आने वाले दुखों का सामना भी उसे स्वयं ही करना था और उन्होंने किया भी। वो बताती है कि -'जातिबन्धन तोड़कर और वह भी प्रेम विवाह दोनों ही परिवार की मर्यादा के लिए चुनौती के रूप में देखा जा रहा था। मामा ने मेरा घर से निकलना बंद कर दिया था। माँ आई। मेरी खूब पिटाई हुई पर मैं कटिबद्ध थी। फिर मुझे पटियाला ले जाया गया। फैसला बदलने के लिए दबाव पड़ता। मैं न अड़ती तो शायद मेरी जिन्दगी ही कहीं गुम हो गई होती[264]।'' लेखिका ने प्रत्येक कदम पर रूढ़ियों और वर्षों पुरानी परम्पराओं को तोड़कर स्वतंत्रता प्राप्त की है। विवाह संस्था में भी उन्होंने यहीं किया।

पद्मा सचदेवा का प्रथम विवाह असफल रहा परन्तु उनका दूसरा प्रेम विवाह संगीतकार सुरेन्द्र सिंह से हुआ। लेखिका का विवाह, विवाह संस्था में स्त्री के लिए न कुछ जोड़ता है न घटाता है। उन्होंने सीधी सुखमय गृहस्थी को अपनाया है जहां पति एवं परिवार के लोग सहयोग करते हैं। पहले पति के साथ बिताए कड़वे

[263] कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृ0 105-106

[264] रमणिका गप्ुता, हादसे, पृ0 24

पलों को याद करते हुए पद्मा सचदेवा लिखती है - ‘‘आज तक दुनिया की कोई भी औरत शराबी पति को सूफी नहीं बना सकी। मर्द के अहंकार को कोई स्त्री नहीं तोड़ सकी। अगर उसका अहंकार टूट भी जाता है तो भी वो इसे कभी स्वीकार नहीं करता क्योंकि उसके पुरखों ने मर्द को ये शिक्षा दी है कि स्त्री पांव की जूती होती है, छोटी-बड़ी हो जाए तो उसे उतार फेंक नई खरीद लो[265]।’’

डॉ. प्रभा खेतान और डॉ. सर्राफ दोनों एक दूसरे से प्रेम करते थे। और यह प्रेम बिना विवाह किए हुए भी आजीवन रहा। प्रभा खेतान परम्परागत विवाह संस्था के नियमों को न मानते हुए उनका उल्लंघन करती है। वह यह सब जानते हुए कि डॉ. सर्राफ आयु में उससे बड़े हैं और पहले ही शादीशुदा हैं फिर भी जब तक डॉ. सर्राफ की मृत्यु नहीं हो जाती तब तक वह अपने प्रेम संबंध को बखूबी निभाती है। वे आजीवन विवाह न करने का निर्णय लेती है। प्रभा खेतान के जीवन में डॉ. सर्राफ के साथ बिताने के लिए सुखद पल भी आए तो वह दौर भी आया जब लेखिका को खुद से ही नफरत होने लगती। उन्हें कभी अपने उद्योग धंधे, पढ़ाई-लिखाई, स्वतंत्र अस्तित्व पर गर्व महसूस होता तो अगले ही पल विवाह संस्था उन पर हावी होती दिखाई देती और वह खुद को हर जगह अपमानित महसूस करती। यही स्थिति कहीं-कहीं डॉ. सर्राफ की भी है। कभी वो प्रभा को डांटते है, गुस्सा करते हैं, वही दूसरी ओर अकेले में उनके सामने रोने भी लगते हैं और

[265] पद्मा सचदेव, बूंद-बावड़ी, पृ0 132

साथ न छोड़ने की फरियाद तक करते हैं। विवाह संस्था के संदर्भ में प्रभा खेतान का मानना है कि ‘‘मेरी समझ में विवाह संस्था एक आवररेटेड संस्था है। मैं इस संस्था को ज्यादा तरजीह देने से इंकार करती हूँ, फिर जो कुछ भी है वह मेरे और डॉक्टर साहब के बीच है, बिल्कुल हमारा निजी कोना’’[266]। प्रभा खेतान के पास सब कुछ होते हुए भी उनके मन में विवाह की दबी हुई इच्छा अवश्य है ताकि वे ‘रखैल’ शब्द से मुक्ति पा सके। उनके मन मे रह-रहकर यही विचार आते कि सिर्फ पत्नी होने के कारण ही डॉ. सर्राफ की पत्नी सावित्री की सामाजिक हैसियत उनसे अधिक है। वे स्वयं को कचोटते हुए खुद ही प्रश्न करती हैं - ‘‘मैं क्या लगती थी डाक्टर साहब की? मैं क्यों ऐसे उनके साथ चली आई? प्रियतम मिस्ट्रेस शायद आधी पत्नी, पूरी पत्नी तो मैं कभी नहीं बन सकती क्योंकि एक पत्नी पहले से मौजूद थी। इस रिश्ते को नाम नहीं दे पाऊँगी या फिर सीधे-सीधे उसे रखैल कहो ना[267]।’’ वे आजीवन प्रेमिका ही बन कर ही, डॉ. सर्राफ की वैध पत्नी नहीं बन पाई। यह पीड़ा उन्हें अन्दर ही अन्दर सालती रही। डॉ. सर्राफ और अपने संबंधों की सफाई देते-देते वह स्वयं से ही पराजित महसूस करती है| उस समय की स्थिति का चित्रण करते हुए लिखती है - ‘‘उस समय मुझे अपने आपसे इतनी घृणा होती कि अपनी चिन्दी-चिन्दी बिखेर देना चाहती, चीखते हुए कहने

[266] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ0 85

[267] वहीं, पृ0 8

लगती कि मैं मर क्यों नहीं जाती, खत्म क्यों नहीं हो जाती। ऐसी स्थिति में डॉक्टर साहब समझाते। आखिर तुम इतनी हिस्टिरिक क्यों हो जाती हो? क्या शादी ही सब कुछ है[268]।'' इस वक्त विवाह संस्था तथा उससे निर्मित संबंध संक्रमण माल से गुजार रहे हैं क्योंकि पूरा समाज बदल रहा है। प्राचीन मूल्य टूट रहे हैं और नए निर्मित नहीं हो पा रहे हैं। इसमें पुरूष की मानसिकता में अधिक बदलाव नहीं आया। किन्तु स्त्री की दृष्टि, खोज, उम्मीदें आगे तक जा चुकी हैं। यही कारण है कि मौजूदा प्रचलित विवाह संस्था को चुनौती मिल रही है। कुछ लोग अंतरजातीय विवाह कर रहे हैं तो कुछ बिना विवाह किये हुए सहजीवन जी रहे हैं, समलैंगिक संबंधों को विवाह संस्था का विकल्प माने पर भी जोर है परन्तु जरूरत विवाह संस्था से भागने या तोड़ने की बजाय उसमें दूसरे साथी को अपनी बात कहने देने का अधिकार प्राप्त हो। वास्तविकता तो यह है कि अभी तक इस संस्था का कोई बेहतर विकल्प बन ही नहीं पाया है। इसमें बदलाव की आवश्यकता है ताकि स्त्रियों को अपने अधिकार प्राप्त हो सकें। समाज को भी यह समझने की आवश्यकता है कि विवाह कोई प्राकृतिक व्यवस्था या ईश्वरीय विधि-प्रयोग नहीं अपितु मनुष्य द्वारा अपनी सुविधानुसार निर्मित व्यवस्था है। इसलिए विवाह संस्था में बदलाव की बात करते समय यह समझना अनिवार्य है कि आपसी वफादारी के मानवीय मूल्य को छोड़कर नहीं, बल्कि इसे अपनाकर और अधिक मजबूत बनाकर ही हम विवाह को एक बेहतर संस्था बना सकते हैं।

---

[268]वहीं, पृ0 13

3.2 **सांस्कृतिक अध्ययन** -

संस्कृति संसार की आद्य-भाषा संस्कृत का अपना ही शब्द है जो सम् उपसर्ग और कृ धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है। साधारण शब्दों में यह 'संस्कार' का समानार्थक है। संस्कृति स्वयं में बड़ी व्यापक है। यद्यपि उसे जाति और राष्ट्र की सीमा में बाधा जा सकता है। परन्तु व्यावहारिक एवं वैचारिक रूप में यह किसी सीमा में बंधी हुई नहीं है। यह समुद्र की स्वछंद तरंगों की तरह तरंगित होती रहती है और निरंतर गतिशील है। समय के साथ इसके रूप-स्वरूप में बदलाव अवश्य आता है, परन्तु इसकी मौलिकता में कोई फर्क नहीं पड़ता है। व्यक्ति जिस प्रकार के संस्कारों के अनुसार चेष्टाएँ, व्यवहार तथा कर्म करता है एक राष्ट्र की सामाजिक प्रवृत्तियों भी ठीक उसी प्रकार मूलभूत संस्कृति को अपनी परिधि का केन्द्र बनाकर गतिशील रहती है।

भारतीय संस्कृति आदिकाल से लकेर आज तक जीवित है। यह आज भी विद्यमान है क्योंकि इसने विदेशी आक्रमणों एवं अत्याचारों के भंयकर प्रहार सहकर भी प्रबल विरोधों के बावजूद सहस्त्राब्दियों में सतत उत्पीड़न के बीच अन्तर्मन की अपनी विशेषताओं को जीतकर उन्हें आत्मसात कर लिया है। अतः इतिहास गवाह है कि वैदिक काल से प्रकाशित भारतीय संस्कृति का दीप, जिसकी ज्योति, काल गति से मंद भले ही पड़ गयी हो, समय-समय पर जन्म लेने वाले संतों की परम्परा द्वारा प्रज्ज्वलित किया जाता रहा है। और उसने अपनी प्रभा से देश-विदेश के लोगों की

न केवल चमत्कृत करती है अपितु उन्हें अपनी प्रकाशधारा से चकाचौंध भी किया है। भारतीय संस्कृति को समन्वयादी संस्कृति माना जाता है। यहाँ अनेक संस्कृतियाँ आई, किन्तु हलके से कम्पन के पश्चात् हमारी संस्कृति ने उन सबको अपने अस्तित्व में ही विलीन कर लिया। आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के संगम से उत्पन्न संस्कृति से भारत की बुनियादी संस्कृति के स्वरूपक का निर्धारण हुआ है जो आज भी शाश्वत है।

3.2.1 **संस्कृति: अर्थ व परिभाषा** -

हिन्दी की महिला आत्मकथाओं में सांस्कृतिक स्थिति का अध्ययन करने से पहले संस्कृति का अर्थ जान लेना अनिवार्य है। संस्कृति शब्द का अर्थ- शुद्धि, सुधार, संस्कार है। संस्कृति को मनुष्य जीवन का प्राण माना जाता है। यह मनुष्य जीवन को सुसंस्कारित बनाकर विकास की ओर उन्मुख करती है। संस्कृति एक विशेष जीवन पद्धति का नाम है जो मनुष्य को चेतना सम्पन्न बनाती है। व्यक्ति को उसकी पाश्विकता, स्वार्थपरकता, संकीर्णता आदि विकारों से मुक्ति दिलाकर उसे परिष्कृत, सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। संस्कृति शब्द संस्कृत से बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ है - ''अच्छी स्थिति, सुधरी हुई स्थिति आदि। श्री शिवदत्त ज्ञानी जी इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते है कि ''संस्कृति से मानव समाज की उस स्थिति का बोध होता है, जिससे उसे 'सुधरा हुआ', 'ऊँचा', 'सभ्य' आदि विशेषणों से विभूषित किया जा सकता है। देश-

विदेश के आचार-विचार भिन्न रहने से सुधार संबंधी भावना भी भिन्न रहती है। इसलिए अलग-अलग देशों की संस्कृति अलग-अलग पाई जाती है। संस्कृति के मूल तत्त्व तो सब देशों में एक से रहते हैं। देशकाल के अनुसार बाहरी स्वरूप में अन्तर होना स्वाभाविक ही है''[269]। संस्कृति शब्द के अर्थ की परिधि अत्यंत विस्तृत है। इसमें किसी देश या जाति के सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, दार्शनिक और धार्मिक जीवन के उत्थान और पतन का समावेश रहता है। 'सम' उपसर्ग के साथ संस्कृत की 'कृ' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगने पर 'संस्कृति' शब्द निर्मित हुआ है। जिसका अर्थ है - परिष्कार, संस्कार और परिमार्जन। हिन्दी में प्रचलित 'संस्कृति' शब्द अंग्रेजी के 'कल्चर' का पर्यायवाची है। संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुच्चय मानी जाती है जो व्यक्ति को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते है। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार संस्कृति शब्द का अर्थ - शुद्धि-सफाई, संस्कार, सुधार, परिष्कार, सजावट, सभ्यता, रहन-सहन आदि की रीति। 'संस्कृति' शब्द का अर्थ मानव-मूल्यों, विचारों एवं संस्कारों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी 'संस्कृति' की व्यक्तिपरक एवं समाजपरक व्याख्या करते हुए कहते है कि ''संस्कृति' शब्द किसी व्यक्ति के पक्ष में बहुधा उसकी शिष्टता सौजन्यता अथवा मान्यता को बोधक होता है और इन गुणों द्वारा उसकी किसी ऐसी स्थायी मनोवृत्ति या ऐसे शील का पता चलता है जिसके कारण वह समाज में स्वभावतः

[269] श्री शिवदत्त ज्ञानी, भारतीय संस्कृति, पृ0 2

उच्च कोटि का गिना जाता है''[270]। श्री गुरूदत्त के अनुसार ''संस्कारों से उत्पन्न व्यवहारों को संस्कृति माना जाता है''[271]। दिनकर जी के अनुसार - ''संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महान चीज होती है। सभ्यता के भीतर इसी तरह व्याप्त रहती है जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगंध। सभ्यता की अपेक्षा यह अधिक टिकाऊ भी होती है क्योंकि सभ्यता की सामग्रियाँ टूट-फूट कर विनिष्ट हो सकती है लेकिन 'संस्कृति' का विनाश उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता''[272]। इस प्रकार भारतीय विचारकों ने 'संस्कृति' शब्द का विवेचन शुद्धि, परिष्कार, संस्कार, दर्शन, चितंन, कला एवं आध्यात्मिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में किया है। किसी भी देश के जातीय जीवन की परम उपलब्धि उस दशा की संस्कृति होती है। जिसका अनुसरण करके वहां के लोग सुख, शान्ति एवं संतुष्टि का अनुभव करते हैं। सच में संस्कृति जीवन की उस प्रक्रिया का नाम है जो सदैव बदलती रहती है और सभ्यता के अन्तराल के बाद सदैव वर्तमान रहती है। जीवन के साथ-साथ उसका उत्थान एवं पतन होता रहता है क्योंकि संस्कृति में केन्द्र में मनुष्य होता है जो उसका निर्माता और विनाशक दोनों की ही भूमिका निभाती है। किसी भी समाज के लोग जिन वस्तुओं का उपयोग करते हैं, कैसे व्यवहार करते हैं, यह सब उसकी संस्कृति के अंतर्गत ही आता है। संस्कृति अथवा कल्चर व्यक्ति की सहज

[270] श्री परशुराम चतुर्वेदी, बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक, पृ0 2

[271] श्री गुरूदत्त, धर्म संस्कृति और राज्य, पृ0 28

[272] श्री रामधारी सिंह दिनकर, भारतीय संस्कृति के अचार अध्याय, पृ0 652

प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों तथा उनके परिष्कार की द्योतक है। । इस शब्द की व्युत्त्पति लैटिन भाषा की कोलर से उत्पन्न कुलटुरा शब्द से हुई है| इस शब्द का दूसरा अर्थ पूजा करना है। कल्चर से इसका सम्बन्ध योरोपीय विद्वान ने इस प्रकार जोड़ा है कि ‘‘जब यह शब्द प्रचलित हुआ तब मनुष्य घुमक्कड़ जीवन से आगे बढ़कर कृषि सीख चुका था और प्रकृति की शक्तियों से त्राण पाने हेतु उसकी पूजा शुरू कर दी थी। जोकि सुन्दर और प्रिय गतिविधियों पर आधारित थी[273]।’’ अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु और कृषि कार्यो के लिए उसे अन्य सहयोगियों के सम्पर्क में आने की आवरूयकता महसूस हुई। जिस कारण सामाजिक, सहयोग, संगठन, सद्व्यवहार जैसे प्रवृत्तियों का विकास हुआ। आपसी सम्बन्धों को व्यवस्थित करने के लिए कुछ नियम कानून बनाए गये और सामाजिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। संस्कृति के विकास-क्रम की तृतीय अवस्था में मनुष्य का संस्कृति के साथ और व्यक्ति का व्यक्ति के साथ सम्पर्क हुआ। इस प्रकार कल्चर शब्द की व्युत्पति का द्योतन करने वाले कोलर शब्द के दोनों अर्थों से आरम्भ में उससे ग्रहण किये जाने वाले कृषि सम्बन्धी अर्थ की प्रधानता की पुष्टि हो जाती है। इस प्रकार भूमि का परिष्कार सुधार करने वाली कार्य-पद्धति कृषि और मानव जीवन के प्राकृत राग-द्वेषों में परिमार्जन करने वाली अवस्था संस्कृति कहलाती है। आन्तरिक और बाहरी दोनों रूपों में परिष्कार की प्रक्रिया को ही संस्कृति माना

[273] डॉ० कृष्णा अवस्थी, वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 18

जाता है| जिनसे मानवता का संस्कार हो, ऐसी शिक्षा-दीक्षा, ऐसा रहन-सहन और ऐसी परम्पराएँ ही संस्कृति मानी जाती है। संस्कृति और कल्चर दोनों परिभाषाओं में पूजन अर्थ की प्रमुखता है| जिसके नैतिक व धार्मिक, संस्कारों के द्वारा मनुष्य की पूर्णता का भाव निहित है, इसका अर्थ यह हुआ कि उन सभी विषयों पर जिनसे हमारा सबसे अधिक संबंध है, संसार में कुछ भी श्रेष्ठ सोचा और कहा गया है| उस ज्ञान को अर्जित कर अपने पूर्णत्व की प्राप्ति के उद्देश्य का अनुकरण तथा इस ज्ञान द्वारा अपनी परम्परागत धारणाओं और अभ्यासों पर नवीन एवं मुक्त चिन्तन धारा को संचालित करते रहना ही संस्कृति होती है।

संस्कृति की परिभाषाएँ –

कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो स्वयं में व्यापकता, गहनता एवं महानता का पुट संजोये हुए होते हैं। उनको परिभाषा के दायरे में नहीं बांधा जा सकता। 'संस्कृति' भी उनमें से एक शब्द है जिसे व्यापक व गतिमान होने के कारण किसी बंधी हुई परिभाषा के द्वारा स्पष्ट करना कठिन है, फिर भी संस्कृति की स्वरूप विवेचना के लिए विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है और अपने-अपने अनुभवों को उसे शाब्दिक रूप देने का प्रयास किया है। संस्कृति की अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग परिभाषा दी है। किन्तु ऐसी परिभाषा खोज पाना कठिन कार्य है, जो युग-युग तक चलती रही है। जिस प्रकार ईश्वर, जीव, सौन्दर्य, प्रेम, कविता आदि को किसी निश्चित परिभाषा में नहीं बांधा जा सकता, उसी प्रकार संस्कृति की भी कोई निश्चित परिभाषा नहीं है।

कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार है -

हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह दिनकर संस्कृति के बारे में कहते हैं कि - ''संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए है, अथवा जिस समाज में मिलकर हम जी रहे हैं, वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते है। इसलिए

संस्कृति, वह मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन में व्याप्त है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है। यही नहीं, बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मान्तर तक करती है[274]।''

डॉ. दुबे के अनुसार - ''हम संस्कृति को मानसिक, नैतिक, भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजकीय, कलात्मक अथवा सारांश में मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष में सीखे हुए व्यवहार प्रकारों की समग्रता कह सकते है[275]।''

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी अपनी विस्तृत परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि ''आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक संगठन, नैतिक परम्परा, और सौन्दर्यबोध को तीव्रतर करने की योजना ये सभ्यता के चार स्तम्भ है। इन सबके सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति बनती है[276]।''

डॉ. नगेद्र शास्त्री लिखते हैं ''संस्कृति मानव जीवन की वह अवस्था है, जहाँ उसके प्रवृत्त राग-द्वेषों का परिमार्जन हो जाता है[277]।''

डॉ. मंगलदेव शास्त्री लिखते हैं ''किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यापारों में अथवा सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले आदर्शों की समष्टि ही संस्कृति है[278]।''

---

[274] रामधारी सिंह दिनकर, भारतीय संस्कृति के चार अध्याय, पृ0 653

[275] महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में चेतना के प्रवाह, माधुरी सोनटक्के (शास्त्री), पृ0 128

[276] वहीं, पृ0129

[277] वहीं, पृ0 128

[278] वहीं, पृ0 128

संस्कृति संबंधी भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोणों की तुलना यह स्पष्ट करती है कि भारतीय चिंतकों की दृष्टि में संस्कृति जीवन की विविध साधनाओं का सुन्दर संगम है। यह एक आदर्श स्वरूपा है। पाश्चात्य विद्वान संस्कृति को सामाजिक विरासत मानते हैं जो परम्परागत है तथा मानव को विकासोन्मुख करने का कार्य करती है। भारतीय संस्कृति जहाँ अध्यात्म पर जोर देती है, वहीं यूरोपीय संस्कृति बुद्धि पर। अतः संस्कृति देश, काल, जाति, धर्म और सम्प्रदाय तक सीमित न होकर मनुष्य के सर्वांगीण विकास की सरणी है। यह जीवन का संस्कार है। वह केवल अतीत की विरासत नहीं बल्कि वर्तमान को संजोकर भविष्य की सार्थक सम्भावना है। यह किसी देश का ऐसा दर्पण होती है जो उसकी विशिष्टताओं के साथ-साथ उसकी दुर्बलताओं के अनुरूप भविष्य की संभावनाओं की यथार्थता को प्रतिबिम्बित करती है।

3.2.2 **संस्कृति और संस्कार** -

अंग्रेजी में कल्चर आदि कई शब्दों का संस्कार के पर्याय के रूप में प्रयोग होता है। परन्तु 'संस्कार' की पूर्ण भावना को व्यक्त करने में उक्त कोई भी शब्द समर्थ नहीं है। संस्कार कार्यों की पूर्ति का गम्भीर और नैतिक दायित्व है जिसमें धार्मिकता और पवित्रता की भावना निहित रहती है। साहित्यिक दृष्टि से शिक्षा शोभा, आभूषण, धार्मिक विधि विधान आदि का सम्मिलित रूप ही संस्कार है।

डॉ. राजबली पाण्डे ने संस्कार की अवधारणा और स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है -''संस्कार का अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक,

मानसिक व बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों से है जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो जाये[279]।'' जैमिनी सूत्र में संस्कार की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया है - ''संस्कारो नाम स भवति यस्मिन् पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्शनस्य। अर्थात् संस्कार किसी वस्तु को ऐसा रूप देने की प्रक्रिया का नाम है जिससे उसे और उपयोगी बनाया जा सके[280]।'' संस्कार मनुष्य के धार्मिक कार्यों, दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठान का नाम है, जो उसे समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बना सके। संस्कार उस तत्त्व का नाम है जिससे मनुष्य जीवन के दोषों का परिमार्जन होता है। संस्कार मानव को विशिष्टता एवं पूर्णता प्रदान कर उसे श्रेष्ठता की ओर ले जाते हैं। 'संस्कार' को परिभाषित करते हुए डॉ. भगवतशरण उपाध्याय कहते है, ''मनुष्य भी अपनी आदिम अवस्था में संस्कार हीन रहता है और धीरे-धीरे अपने ऊपर प्रतिबंध लगाकर अनुचित को दबाकर उचित को लेकर ही सुन्दर बना है। व्यक्ति अपने मन को शुद्ध करके एक और व्यक्तिगत विकास करता है और दूसरी ओर समूह में शिष्ट आचरण समाज के प्रति उसका उचित व्यवहार उसे संस्कृत बनाता है[281]।'' उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृति से तात्पर्य संस्कार सम्पन्नता, शुद्धि अथवा व्यक्ति की सुधारी हुई स्थिति से है। जिस व्यक्ति का आचरण व्यक्तिगत

[279] वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ० कृष्णा अवस्थी, पृ0 22
[280] वहीं, पृ0 23
[281] वहीं, पृ0 24

और सामाजिक दोनों रूप से शुद्ध हो उसी को संस्कृत कहा जा सकता है। संस्कार सम्पन्नता ही संस्कृति है, ये संस्कार शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। आधुनिक युग में इन संस्कारों का स्वरूप बदल रहा है क्योंकि माता-पिता और समाज की परम्परागत मान्यताओं में परिवर्तन आ रहे हैं मूलतः वहीं संस्कार देने वाले माने जाते हैं। संस्कारों में होने वाले बदलाव के कारण संस्कृति के रूप एवं स्वरूप में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है। संस्कृति और संस्करा को अलग नहीं किया जा सकता है। संस्कार ही परिभाषाओं में परिणत होकर संस्कृति का रूप बन जाते हैं।

3.2.3 **भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ** -

भारतीय संस्कृति को अत्यंत प्राचीन संस्कृति माना जाता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्व जो आज से हजारों वर्ष पूर्व तक भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग थे, वे आज भी भारतीय संस्कृति में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है और भारतीय संस्कृति की इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रख कर हम प्राचीन भारत की परिस्थिति का आकलन कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति में धर्म, अध्यात्मिकता, ललित कला ज्ञान, विज्ञान, विभिन्न विधाएं, नीति, विधि-विधान, जीवन प्रणालियों और वे समस्त क्रियाएँ और कार्य हैं जो उसे विशिष्ट बनाते हैं और जिन्होंने भारतीयों के सामाजिक और राजनैतिक विचारों की धार्मिक और आर्थिक जीवन को साहित्यिक शिष्टाचार और नैतिकता में ढ़ाला है।

भारतीय संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएँ इस प्रकार है –

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीतम संस्कृतियों में से एक है। अन्य देशों की संस्कृतियां तो समय की धारा के साथ-साथ समाप्त होती रही है, लेकिन भारत की संस्कृति आदिकाल से ही अपने परम्परागत अस्तित्व के साथ अजर-अमर बनी हुई है। इसके उदारता और समन्यवादी गुणों ने अन्य संस्कृतियों को अपने भीतर समाहित तो किया ही साथ ही अपने मूल अस्तित्व को भी सुरक्षित रखा है। मध्यप्रदेश के भीमबेटका में पाये गए शैलचित्र, नर्मदा घाटी में की गई खुदाई तथा कुछ अन्य नृवंशीय एवं पुरातत्वीय प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि भारत भूमि आदि मानव की प्राचीनतम कर्मभूमि रही है। सिन्धु घाटी से प्राप्त अवशेषों के विवरणों से भी यह प्रमाणित होता है कि आज से लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व उत्तर भारत के बहुत बड़े भाग में एक उच्च कोटि की संस्कृति का विकास हो चुका था। इसी प्रकार सबसे प्रचीनतम माने जाने वाले ग्रंथ वेद में परिलक्षित भारतीय संस्कृति न केवल प्राचीनता क प्रमाण है अपितु वह भारतीय अध्यात्म और चिन्तन की भी श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। साक्ष्य के रूप में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर भारतीय संस्कृति से रोम और यूयानी संस्कृति को प्राचीन तथा मिश्र, असीरिया एवं बेबीलोनिया जैसे संस्कृतियों के समकालीन माना गया है।

सहिष्णु प्रकृति ने भारतीय संस्कृति को दीर्घ आयु एवं स्थायित्व प्रदान किया है। विश्व की किसी भी संस्कृति में इतनी सहनशीलता नहीं जितनी भारतीय संस्कृति में पाई जाती है। भारतीय हिन्दू किसी भी देवी-देवता की आराधना करे या न करें, पूजा-पाठ करे या न करें आदि स्वतंत्रताओं पर धर्म या संस्कृति के नाम पर

कभी कोई प्रतिबंध नहीं लगाया। इसीलिए प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रतीक हिन्दू धर्म को धर्म न कहकर कुछ मूल्यों पर आधारित एक जीवन पद्धति की संज्ञा दी गई और हिन्दू का अभिप्राय किसी विशेष धर्म के अनयुायी से न लगाकर भारतीय से लगाया गया। भारतीय संस्कृति के इस लचीले स्वरूप में जब भी जड़ता की, स्थिति निर्मित हुई तब किसी न किसी महापुरूष ने इसे गतिशीलता प्रदान कर उसकी सहिष्णुता को नवीन आभा से मंडित कर दिया। इस दृष्टि से प्राचीनकाल में बुद्ध और महावीर के द्वारा, मध्यकाल में शंकराचार्य, कबीर, गुरूनानक और चैतन्य महाप्रभु के माध्यम से तथा आधुनिक काल में स्वामी दयानंद स्वामी विवेकनान्द एवं महात्मा ज्योतिबा फूले के द्वारा किये गए प्रयास इस संस्कृति की महत्त्वपूर्ण धरोहर बन गए।

भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि हजारों वर्षों के पश्चात् भी यह संस्कृति वर्तमान में भी अपने मूल स्वरूप में जिन्दा है जबकि मिस्त्र, असीरिया, रोम और यूनान की संस्कृतियाँ अपने मूलस्वरूप को लगभग विस्मृत कर चुकी हैं। भारत में नदियों, वट, पीपल जैसे वृक्षों, सूर्य तथा अन्य प्राकृतिक देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना का क्रम सदियों से चला आ रहा है। देवताओं की मान्यता, पूजा-पाठ, हवन आदि की पद्धतियों की निरन्तरता आज तक भी अप्रभावित रही है। वेदों और वैदिक धर्म में करोड़ों भारतीयों की आस्था और विश्वास आज भी उतना ही है जितना हजारों वर्ष पहले था। गीता और उपनिषदों के संदेश हजारों साल से हमारी प्रेरणा और कर्म का आधार बने हुए हैं। थोड़े बहुत

परिवर्तनों के बावजूद भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों, जीवन मूल्यों और वचन पद्धति में एक ऐसी निरन्तरता रही है कि आज भी करोड़ों भारतीय स्वयं को उन मूल्यों एवं चिन्तन प्रणाली से जुड़ा हुआ महसूस करते हैं और इससे प्ररेणा प्राप्त करते हैं।

भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता एवं उदारता के कारण उसमें एक ग्रहणशीलता की प्रवृति को विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। हमारी संस्कृति में यहां के मूल निवासियों ने समन्वय के प्रक्रिया के साथ ही बाहर से आने वाले शक, हूण, यूनानी एवं कुषाण जैसे प्रजातियों के लोग भी घुलमिल कर अपनी पहचान खो बैठे। भारत में इस्लामी संस्कति का आगमन भी अरबों, तुर्कों और मुगलों के माध्यम से हुआ। इसके बावजूद भारतीय संस्कृति का पृथक अस्तित्व बना रहा और बाहर से अपने वाली संस्कृतियों से कुछ अच्छी बातें ग्रहण करने में भारतीय संस्कृति ने जरा-सा भी संकोच नहीं किया। ठीक यही स्थिति यूरोपीय जातियों के आगमन तथा ब्रिटिश साम्राज्य के कारण भारत में विकसित हुई ईसाई संस्कृति पर लागू होती है। यद्यपि अब ये संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृतियों का अभिन्न अंग है, तथापि भारतीय इस्लाम एवं भारतीय ईसाई संस्कृतियों का स्वरूप विश्व के अधिकतर मुसलमान और ईसाई मूलतः भारत भूमि के ही निवासी है। इसीलिए उनके सामाजिक परिवेश और सांस्कृतिक आचरण में कोई बदलाव नहीं हो पाया और भारतीयता ही उनकी पहचान बन गई।

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता समन्वय की भावना है। जिस प्रकार कोई नदी अपनी उपनदियों को अपने भीतर समाहित करके आगे चलती है। ठीक उसी तरह भारतीय संस्कृति भी अन्य संस्कृतियों को अपने में समाहित करके चलती है। समन्वय भारतीय संस्कृति का मूल आधार है। विभिन्न संस्कृतियों की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को आत्मसात करते करते सहिष्णुता, उदारता और अनुकूलन के गुण सहज ही इस संस्कृति में विकसित हुए है। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल अपने स्वरूप में सन्तुलित परिवर्तन करके अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने का प्राणिशास्त्रीय सिद्धान्त संस्कृतियों पर भी घटित होता है। ऐतिहासिक विकास क्रम में यह तत्त्व स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक संगठन, रीति-नीति और दर्शन सब में कट्टर सिद्धान्तवादिता की अपेक्षा भारतीय संस्कृति ने सदा उर्वर समन्यवादिता का परिचय दिया है। इसी सहिष्णुता के कारण अन्य संस्कृतियों की विशिष्टताओं को ग्रहण करके अपनी जीवन शक्ति विकसित करने में हमारी संस्कृति को कोई कठिनाई नहीं हुई। इतिहास गवाह है कि जिस युग में इन तत्त्वों का जितना विकास हुआ उस युग की संस्कृति उतनी ही उन्नति शीलता की ओर अग्रसर हुई। सामंजस्य और उदारता की यह भावना अचानक या अकारण नहीं है, इसके मूल में भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक मान्यतायें क्रियाशील है। विश्व में एक भी संस्कृति ऐसी नहीं है जिसके प्रतिनिधि तत्त्व भारत में न पाए जाते हों।

आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति की एक अन्य विशेषता है। भारतीय संस्कृति में आश्रम-व्यवस्था के साथ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष जैसे चार पुरूषार्थों का विशेष स्थान रहा है। इन्हीं पुरूषार्थों ने भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता का एक अद्वितीय समन्वय कर दिया है। हमारी संस्कृति में इहलोक और परलौक दोनों पहलुओं से धर्म को सम्बन्ध किया गया था। धर्म उन सिद्धान्तों, तत्त्वों और जीवन प्रणाली को कहा जाता है, जिनसे मानव जाति परमात्मा द्वारा प्रदान की गई शक्तियों के विकास से लौकिक जीवन सुखमय बना सके तथा मृत्यु के बाद जीवात्म शान्ति का अनुभव कर सके। शरीर नश्वर है वह क्षणभंगुर है जबकि आत्मा अमर है, यह अमरता मोक्ष से पहले पुरूषार्थ करना है। इस तरह भारतीय संस्कृति में धर्म और मोक्ष आध्यात्मिक संदेश एवं अर्थ और काम की भौतिक आवश्यकता आपस में संबंधित है। आध्यात्मिकता और भौतिकता के इस समन्वय में भारतीय संस्कृति की वह विशिष्ट अवधारणा दृष्टिगोचर होती है जो मनुष्य के इस लोक और परलोक को सुखमय बनाने हेतु भारतीय मनीषियों ने निर्मित की थी। भारतीय संस्कृति के आदर्श वीतराग मनीषियों के तत्त्वबोध का निचोड़ है, जिनकी परम्परा प्राचीन ऋषियों से लेकर तुलसी, रामकृष्ण परम हंस, विवेकनान्द, महात्मा गांधी और अरविन्द तक अखंड है। अध्यात्म के साथ-साथ भारतीय संस्कृति में विधा तथा कला को भी असाधारण महत्त्व प्रदान किया गया है। भारतीय संस्कृति में विधा और कला की देवी के रूप में सरस्वती की पूजा अर्चना की जाती है। सरस्वती के हाथों में एक विद्या का प्रतीक किताब है वहीं

दूसरे हाथ में कला का प्रतीक वीणा। साहित्य, संगीत और कला की सभी विधाओं के माध्यम से भी भारतीय संस्कृति के इस आध्यात्मिक एवं भौतिक समन्वय को सहजता से समझा जा सकता है।

अनेकता में एकता भारतीय संस्कृति का मूल प्राण है। भारत को भौगोलिक दृष्टि से विविधताओं को देश माना जाता है फिर भी सांस्कृतिक रूप में एक इकाई के रूप में इसका अस्तित्व आदिकाल से बना हुआ है। भारतीय परिवेश में विभिन्न धर्म तथा विभिन्न धर्मों के असंख्य जातिगत व्यवस्थाएं है। इन भिन्न-भिन्न धर्मो के जनजातियों के भाषाओं में, रहन-सहन, खान-पान, रूढ़ि परम्पराओं के अंतर होते हुए भी भारतीय संस्कृति ने इन सभी को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयाय किया है। हमारी संस्कृति ने ही कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले हुए विस्तृत भू-भाग को एकसूत्र में पिरोने का कार्य किया है। इन सब भिन्नताओं के कारण ही भारत में अनेक सांस्कृतिक उपधाराएं विकसित होकर पल्लवित और पुष्पित हुई हैं। अनेकता में एकता या विविधता में एकता भारतीय संस्कृति का मूल सूत्र रहा है। परोपकार, त्याग, उदारता, दया आदि भारतीय संस्कृति का उत्तम निधियाँ हैं। यह संस्कृति सबके कल्याण की कामना करती है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' तथा 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' भारतीय संस्कृति का मूल ध्येय रहा है। सम्पूर्ण विश्व को अपना कुटुंब मानने वाली यह संस्कृति विश्व के सभी प्राणियों के हित की बात करती है। पाप-पुण्य की कल्पना भक्ति एवं कर्म का समन्वय कला और विधा का अद्भूत मिलन मोक्ष की संकल्पनाएँ ये सब भारतीय

संस्कृति की आधार शिलाएं है। विविधता में एकता भारतीय संस्कृति का प्राणतत्त्व है।

खान-पान -

संस्कृति में खान-पान का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि भौगोलिक परिस्थितियों इनमें अन्तर पैदा करती है। यह हमारी आधारभूत आवश्यकता के साथ-साथ हमारी संस्कृति का भी परिचायक है। एक ही देश के अलग-अलग क्षेत्रों में रहने वाले लोगों का खान-पान बिल्कुल भिन्न हो जाता है। भारत जैसे विशाल देश में तो केवल भौगोलिक वातावरण में ही विविधता नहीं अपितु जाति, धर्म, खान-पान पहनावे पर भी देखने को मिलता है। इन क्षेत्रों में पाश्चात्य संस्कृति ने अपना प्रभाव काफी डाला है, लेकिन फिर भी भारतीय खानपान की संस्कृति आज भी लोकप्रिय बनी हुई है। हमारी अपनी खुद एक परम्परा रही है जो इन परिवर्तनों के दौर में भी अपने अस्तित्व को बचाए रखने में सफल हुई है। महिला-लेखिकाओं ने भी अपने-अपने क्षेत्र के खानपान को अपनी आत्मकथाओं में चित्रित किया है। 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा की लेखिका कौसल्या बैंसंती महार जाति से संबंध रखती है। महार जाति के लोग जिस प्रकार का खानपान करते है उसका चित्रण लेखिका ने अपनी आत्मकथा में चित्रण किया है। इसी संदर्भ में लेखिका कौसल्या बैसंती लिखती है - ''बड़ी बहन ने भात और रोटियाँ पकाई। पिताजी ने संवेरे ही मांस खरीद रखा था। ज्यादातर हम लोग गाय का मांस खाते थे। बस्ती के लोग

भी ज्यादातर गाय का ही मांस खाते थे। यह मांस सस्ता होता था। हमारी बस्ती से थोड़ी ही दूरी पर कसाई खाना था। गड्डी गोदाम नामक जगह पर यह कसाई खाना था। मुस्लिम कसाई मांस बेचते थे। वहां हिन्दू खटिक बकरियों का मांस बेचते थे। हमारी बस्ती के लोग मांस खरीदकर किसी कपड़े में बांधकर लाते थे। कपड़े में से सारे रास्ते भर खून टपकता रहता था। देखने में बहुत भद्दा लगता था[282]।'' जिस दिन घर में मांस बनता था उस दिन पत्थर पर खूब बारीक मसाला पीसा जाता था। क्योंकि ये लोग मांस में अधिक मिर्च मसाला डालकर पकाते थे। घर में अधिकतर भात और रस्से वाली सब्जियों ही बनती थी। क्योंकि भात के साथ रसा चाहिए होता था। गर्मी के दिनों में मूंग और उड़द की बड़ियां बनाई जाती थी जिन्हें साल भर खाया जाता था। चावल के आटे के पापड़ भी बनाये जाते थे ताकि त्योहार या जब कोई मेहमान घर पर आ जाए तो उन्हें तलकर खाया जा सके। लेखिका कहती है ''लकड़ी के फट्टे पर सेवइयां भी हाथ से बनाकर रख देते। इन्हें कभी कभी आम के रस में डालकर खाते। पहले सेवइयों को पानी में उबालकर उसका पानी निकाल लेते फिर रसवाले आम का रस निकालकर या इमली को पानी में भिगोकर उसका रस निकालकर चीनी या गुड़ डालते और सेवइयों में मिलाकर खाते। जब कभी मेहमान आते तो उन्हें भी सेवइयां खिलाते। सेवइयां और चावल के पापड़ गर्मियों में साल भी के लिए बनाकर रख लेते[283]।''

---

[282] दोहरा अभिशाप, कौसल्या बैसंत्री, पृ0 13

[283] वहीं, पृ0 13-14

'लगता नहीं है दिल मेरा' आत्मकथा में कृष्णा अग्निहोत्री ने हिन्दी प्रदेशी खानपान की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। ''हम सब उसके साथ मिलकर सलोनी के घर घुस जाते और छीके पर रखी नमक-मिर्च की रोटियां खा लेते । घर के बाद प्याज के साथ इन रोटियों की चोरी में बड़ी तृप्ति प्राप्त होगी[284]।'' प्रभा खेतान के घर में रोजाना एक ही तरह का खाना बनाया जाता था। जिसे खाने का बच्चों को मन हो या न हो पर फिर भी वही खाकर स्कूल जाते थे ''स्कूल खाना खाकर जाना पड़ता। वही दाल, चावल, आलू की सूखी सब्जी[285]।''

''बूँद बावड़ी'' आत्मकथा में उत्तर भारतीयों के खास पदार्थ जैसे भरवां करेले, बोंडे आदि का वर्णन मिलता है। ''जब छुट्टी वाले दिन में गाजियाबाद जाती तो वो भरवां करेले देसी घी से भरी कढ़ाई में धीरे-धीरे सेंकती थी[286]।''

'टोकरियों में भरकर इमरतियाँ, नमकीन आलू, बोंडे, चाय। सारा माहौल ही पुरस्कारमय हो गया[287]।'' इस प्रकार लेखिकाओं ने अपनी आत्मकथाओं में अपने-अपने प्रदेश से जुड़े खानपान का वर्णन किया है।

रहन–सहन -

---

[284] कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है पित मेरा, पृ0 37

[285] प्रभा खेतना, अन्या से अनन्या, पृ0 30

[286] पदमा सचदेवा, बूँद बावड़ी, पृ0 259

[287] वहीं, पृ0 259

विवेच्य आत्मकथाओं में लेखिकाएं अपना जीवन यापन पारम्परिक पद्धति से करती नजर आती है। कृष्णा अग्निहोत्री को लालन-पालन ब्राह्मणी संस्कारों के अनुरूप हुआ। उनके पिता की आर्थिक स्थिति ठीक-ठाक थी, उन्हें बचपन में बुआ के पास रखा गया था - ''कानपुर के फतहगंज मुहल्ले से मैं फूफा के पीछे-पीछे नित्य प्रातः ढ़ाई तीन मील पैदल चल गंगाघाट पहुंचती, वहां नहाकर हवन पूजा करते पंडितों के बीच बैठे मंत्रोच्चार करती[288]।'' परम्परागत बचपन के पश्चात् विवाह के बाद उनके रहन-सहन में काफी परिवर्तन आता है - ''सदर में तीन चार बंगले एक से बने थे, उनमें बीच वाला बंगला हमें मिला .... कहने को मेरे घर भी रसोइया था। ऊपर के कामकाज के लिए भी सिपाही था[289]।'' तथा क्लब कल्चर भी दिखाई देता है - ''मेरे लिए तो बनारस क्लब, वहां का चीज टोस्ट, लौन पर बिखरा सदस्यों का हा-हू-ही सब ऐश्वर्यपूर्ण था। उस वातावरण का भोगना अब संभव भी नहीं[290]।'' मन्नू भंडारी का जन्म भानपुरा गांव में हुआ था। पर अजमेर में उनका बचपन बीता - ''लेकिन यादों का सिलसिला शुरू होता है अजमेर के ब्रह्मपूरी मोहल्ले के उस दो-मंजिला मकान से जिसकी ऊपरी मंजिल में पिता का साम्राज्य था। वहां निहायत अव्यवस्थित ढंग से फैली-बिखरी पुस्तकों-पत्रिकाओं और अखबारों के बीच वे या तो कुद पढ़ते रहते थे या फिर 'डिक्टेशन' देते रहते

[288] कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ0 25

[289]वहीं, पृ0 109

[290] वहीं, पृ0 134

थे। नीचे हम सब भाई-बहिनों के साथ रहती थी हमारी बेपढ़ी-लिखी व्यक्तित्वहीन माँ-सवेरे से शाम तक हम सबकी इच्छाओं और पिताजी की आज्ञाओं का पालन करने के लिए सदैव तत्पर[291]।'' मन्नू का बचपन परम्परागत घरेलू वातावरण में व्यतीत हुआ जैसे बहन के साथ लंगडी, पकड़म-पकडाई खेलना, भाईयों के साथ कभी-कभार कोई एक फिल्म देखने जाना इत्यादी। जिसका प्रभाव उन पर सदैव रहा। समय के साथ परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ और मन्नू प्राध्यापिका बनती है। विवाह तथा बेटी के बड़े होने के बाद अपनी बेटी टिंकू तथा हितचिंतक के बदौलत स्वयं के पैसों से अच्छा घर बुक करती है और आराम से रहती है। फिर भी वह कहती है - ''पर मानसिकता शायद मेरी बिल्कुल घरेलू औरत की है[292]।'' प्रभा खेतान का बचपन मारवाड़ी क्षेत्र में व्यतीत हुआ था इसलिए उनकी आत्मकथा, अन्या से अनन्या, में मारवाड़ी जीवन दृष्टिगोचर होता है। लेखिका लिखती है - ''हमारे परिवार का परम सुख था रूपया। अधिक से अधिक रूपया। बाबूजी, अम्मा को जब रूपया देते, हम अम्मा बहुत खुश होती। अम्मा सबसे पहले फल-दूध का बजट बढ़ा देती। हमें तब रोज एक गिलास भरकर, मौसम्बी या संतरे का रस पिलाया जाता। टिकरिये में मक्खन ज्यादा होता। वे सर ऊँचा किए नाते-रिश्तेदारों के घर जाया करती[293]।'' रमणिका गुप्ता का परिवार सामन्ती होकर भी आधुनिकता

---

[291] एक कहानी यह भी, मन्नू भंडारी, पृ0 15

[292] वहीं, पृ0 153

[293] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ0 21

को अपनाए हुए है। इसी संदर्भ में लेखिका कहती है - ‘‘हमारा परिवार सामन्ती परिवार था पर आधुनिकता के मामले में अपने समय के अनुसार सबसे आगे था जैसा कि हर सामन्ती परिवार दिखावा करता है, होड़ लगाता है। घर में परदा प्रथा लागू थी, हालांकि मेरे पिता और मेरी मां ने लीक से हटकर घर के लोगों में परदा करवाना समाप्त करवा दिया था। मेरी माँ (साहबों की मेमों की तरह) मेरे पिता के साथ दौरों पर जाया करती थी[294]।’’ विवाह के बाद सुशीला टाकभौरे ससुराल आ जाती है। जहां का माहौल कुछ इस प्रकार था - ‘‘दस बाय दस के एक कमरे के घर में सोफा पंलग नहीं थे। मैं किचन में चुल्हे के पास बैठी रहती, तब मिट्टी के चूल्हे में लकड़ी जलाकर खाना बनाते थे[295]।’’ फिर सुशीला टाकभौरे पढ़-लिखकर प्राध्यापक बन जाती है और अपने पैसों से घर खरीद कर सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करती है। प्रस्तुत वक्तव्यों से स्पष्ट होता है कि अधिकतर महिला आत्मकथाकार शिक्षित तथा मध्यवर्गीय परिवार से संबंध रखती थीं| उनके रहन-सहन पर भी इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। जो कि भारतीय संस्कृति के मूल्यों में नवीन आयामों के समावेश का परिचायक है |

[294] रमणिका गुप्ता, हादसे, पृ0 18

[295] सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ0 148

रीति-रिवाज -

भारतीय समाज में परम्परा का महत्त्व अत्यधिक है। पारम्परिक पद्धति से विवाह, व्रत, त्यौहार स्त्रियों के जीवन के अतिभाज्य अंग होते है। भारतीय समाज में विववाह को तो एक महत्त्वपूर्ण संस्था माना जाता है जो मनुष्य की कामभावना, वंश-वृद्धि एवं सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित संस्कार के साथ-साथ धार्मिक संस्कार भी माना जाता है। ''विवाह संस्कार भारतीय संस्कृति में ही नहीं संसार की सभी संस्कृतियों में एक महत्त्वपूर्ण संस्कार माना गया है। धर्म का एक बहुत बड़ा हिस्सा विवाह और गृहस्थ संबंधी आदेशों-निर्देशों से भरा पड़ा है[296]।''

विवाह में विविध रीति-रिवाजों और रस्मों का निर्वाह करना पड़ता है। समय परिवर्तन के साथ-साथ इन रीति-रिवाजों में भी कुछ परिवर्तन हुआ है। हिन्दी की महिला आत्मकथाओं ने अपने जीवन के इस महत्त्वपूर्ण संस्कार का वर्णन अपनी आत्मकथाओं में किया है।

'कस्तूरी कुडंल बसै' आत्मकथा में लेखिका के विवाह में कन्या कर्ण छेदन की रस्म का चित्रण हुआ है। जिसमें मामी की तरफ से आई सोने की बालियों से विवाहिता कन्या का कर्ण छेदन होता है। ''कन्या कर्ण छेदन का महूरत है। नाईन ने घर-घर बुलावे दिए हैं। हर महूरत पर औरतें कटोरों में अनाज ले लेकर आती

[296] डॉ० शाकिर शेख, नासिरा शर्मा के कथा साहित्यों में समसायिक बोध, पृ0 60

है। मंडप की जगह चौक पर अनाज अर्पण कर देती है। पंडित, नाई, खेरापति और गांव की स्त्रियों की उपस्थिति में माँ के मातृकुल दीपक मामा ने मैत्रेयी के लिए रोटी, चावल, अक्षत तथा कलावेवाली थाली में सोने की छोटी-छोटी बालियां गुलाबी पन्नी में सजाकर रख दी। मामा-मामी हाथ जोड़कर पंडित के पवित्र मंत्रों के सामने बैठे है[297]।''

विवाह में विभिन्न रस्मों को निभाने के साथ-साथ गीत-गाने की प्रथा वर्तमान समय भी प्रचलित है। ग्रामीण अंचल में इन प्रथाओं का प्रभाव अधिक देखा जा सकता है। विवेच्य आत्मकथा में लेखिका के विवाह में गाए हुए गीतों का वर्णन हुआ है। द्वार पर बंधनवार बांधने के लिए समधियों ने औरतों को गालियां भरे गीत गाने के लिए उकसाया था। वे कहते हैं - ''बंधनवार तब बंधेगे जब गांव की औरतें गालियां गाएंगी। हमें तो लग रहा है गूंगी औरतों के गांव में आ गए। बहनचोद, खाती-पीती हैं, रंभाती नहीं। इनसे तो गांए अच्छी[298]।'' यह सुनकर कलावती चाची ने अपना घूंघट जरा लंबा खींचा हाथ में आईना ले लिया और गाने लगी -

''मौछनवारे समधी, तू देख ललमनियाँ
ओ दूल्हा ताऊ तू देख ललमनियाँ
ओ मामा के लोभी तू देख ललमनियाँ''

---

[297] मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुंडल बसै, पृ0 225-226

[298] वहीं, पृ0 230

कस्तूरी के विवाह के समय आंगन में स्वस्तिक चौक पूरे गए। मंगल कलश भरे गए। तेल-हल्दी का शगुन हुआ आरते गाए गए -

''बुँद बुँदियन बरसैगे मेह,
तुम बैठो लढ़लढ़ी हो चौक,
झम कारने भीजेगी माढ़यौ
तिहारी बुआ करेंगी आरतौ[299]।''
मैं तोय पूछूं वारी वरनी तेरे माथे मरूअट किन्ने रे ढ़ई?
बहना रानिन के जुर गए झुंड, मेरे माथे मरूअट उनने रे दई।
मैं तोय पूछूं वारे वरनी, तेरे अंगन हल्दी किन्ने रे दई।
भाभी चाचिन के जुर गए झुंड मेरे अंगन हल्दी उनने रे दई[300]।''

विवाह में फलदान की रस्म भी निभाई जाती है। जिसका वर्णन 'लगता नहीं है दिल मेरा' आत्मकथा में कृष्णा अग्निहोत्री ने किया है। वे लिखती है - ''उन्होंने मेरे ससुरालवालों की प्रत्येक इच्छा पूरी की। फलदान में ग्यारह हजार नकद, चांदी की थाली, रेशमी सिल्क का पूरा थान, मेवा आदि दिए गए हैं। मेरी सास ने कहा – तिवारी जी हमें व लड़कों की दादी को पैर छुवाई में सोने की गिन्नी चाहिए और स्मरण में मेरे बटुए में सोने की गिन्नी रखी गई। सास की पिटारी के लिए मैंने स्वयं बनारसी साड़ी से लेकर सिल्क तक पंद्रह-बीस साड़िया चुनी[301]।'' इस प्रकार विवाह के समय कई रस्में आज भी निभाई जाती है और इन्हीं रीति-रिवाजों

[299] वहीं, पृ0 241
[300] वहीं, पृ0 224
[301] कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ0 93

का पालन करती हुई कृष्णा विवाह बंधन में बंध जाती है - ''गांव की परम्परा और सामाजिक रीति के अनुसार लड़कियां जैसे अपने आप को भूलकर पूर्ण समर्पण भाव से ससुराल जाती है, वैसे ही मैंने अपने भावी जीवन में कदम रखा था[302]।''

'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा में लेखिका ने कोसरे उपजाति में होने वाली वैवाहिक रीति-रिवाजों का वर्णन किया है। वे कहती है - ''कोसरे उपजातियों का सेहरा जो दूल्हा-दूल्हन को पहनाया जाता था वह जंगली खजूर के पत्तों से बनाया जाता था। इन खजूरों के पत्तों को जंगल से काटकर उसे आठ दिन तक 'हल्दी का पानी' में भिगोकर रखते थे। नर्म पड़ने पर बहुत कलात्मक प्रकार से सेहरा बनाते थे। और महार जातियों का सेहरा बाजार में बिकता था। वह चमकीले कागजों से बनता था। दुल्हन शादी में पीले रंग की, लाल किनारी वाली साड़ी पहनती थी। दूल्हे का पिता दुल्हन के पिता को दहेज में कुछ रूपये देता था। सिर्फ कोसरे उपजातियों में यह रिवाज था। इनकी शादी में एक रस्म-रिवाज था धनुष बाण लेकर चलना[303]।'' विवाह के अलावा जन्म और मृत्यु को लेकर भी अनेक रीति-रिवाजों का पालन करना पड़ता है। आजकल युवा पीढ़ी कुछ रूढ़ हो चुकी परम्पराओं को ठुकराकर समयानुसार बदलने लगी और यह बदलाव परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक भी है। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' आत्मकथा में लेखिका मैत्रेयी पुष्पा अपने

---

[302] वहीं, पृ0 133

[303] कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृ0 23

नामकरण विधि का उल्लेख किया है - ‘‘मेरा जन्म एक लड़की का जन्म था, फिर भी पिता ने रिवाज तोड़कर कोस दूर खुर्जा से बाबूलाल पंडित जी को मेरा नामकरण करने बुलाया। वह इसलिए कि इस साल खेत में फसल बहुत अच्छी हुई थी। पंडित जी के लिए दावत बन सकती थी। दक्षिणा दी जा सकती थी। गांव के लोगों के पकवान परोसे जा सकते थे। रिवाज के अनुसार लड़की का नाम फूल पर चम्पा, बेल गुला, मेहंदी और गुलकंदी या फिर प्रेमवती सरला लज्जा था कि शिव देवी, हरदेवी शांति, अंगुरी, कैलाशी महादेवी। और लड़के का नाम-लाल प्रसाद और सिंह जोड़कर रखा जाता था और पीछे इन्द्र लगाया जाता[304]।’’ लेखिका ने बुदेलखंड में चलने वाली रक्कस प्रथा का उल्लेख किया है। वे कहती है - ‘‘यह रस्म लड़के की एक साल की अवस्था से तीन साल की उम्र तक की जाती है। बच्चे की माँ, बुआ दादी, चाची के साथ मोहल्ले का स्त्री समूह, पूर-पुआ, पपरियाँ, गुलगुला बनाकर खेतों पर जाती हैं। धरती की पूजा होती है। बच्चे को तिलक लगाते है, धूंटा बांधते हैं । (काला धागा कमर में) और फिर अपने खेतों की सीमा दिखाते हैं - यह तेरी भूमि है, तेरे पुरखों की जमीन अब तेरे हवाले है इसकी रक्षा तू करेगा। दुश्मन तेरे खेत की मिट्टी न छूएं[305]।’’ विधवा स्त्रियों का जीवन भारतीय संस्कृति में सदैव से उपेक्षित एवं तिरस्कृत रहा है। जो सामाजिक रूढ़िया निर्धारित कर रखी है उनके

[304] मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ0 183

[305] वहीं, पृ0 210

कारण विधवा होने वाली औरतों का जीवन अत्यंत दुःखदायी और यातनामय बन जाता है। 'पिंजरे की मैना' आत्मकथा में लेखिका ने इसी प्रकार की जाट प्रथा का उल्लेख किया है - ''अचानक लड़ाई में सूबेदारा मारा गया। जाट प्रथा के अनुसार घर में देवर-जेठ हो तो घर की बहू विधवा नहीं रह सकती - उसे वह चादर डालकर घर बैठा लेता है। भाभी पच्चीस की हो और देवर बारह-चौदह का भी हो, तब भी चादर डाल सकता है[306]।'' अर्थात् स्त्री को घर की इज्जत मानते हुए इस प्रथा के द्वारा विधवा होने के बाद उसे उसी घर में रखा जाता है। फिर चाहे उसका जीवन कितना भी कष्टमय हो, वह अपना निर्णय लेने की स्वतंत्रता नहीं होती। इस प्रकार की सामाजिक रूढ़ियां विधवा स्त्री को यातनामय लांछित जीवन जीने को विवश करती है लेकिन शिक्षा के प्रचार, स्त्रीवादी विचार समाजसुधारकों के प्रयास ने विधवाओं को भी आत्मनिर्भर बनने के लिए बल दिया। इसका प्रमुख उदाहरण कस्तूरी है। अपनी आत्मकथा में मैत्रेयी पुष्पा ने माँ कस्तरूी के जीवन संघर्ष को अभिव्यक्त किया है। पति के मौत के पश्चात् कस्तूरी पढ़-लिखकर आत्मनिर्भर बनने के लिए संघर्ष करती है। ''स्कूल जाने वाली झोला लटकाए औरत को भौंचक होकर सबने देखा। वह इस कदर परेशान हुई कि किसी आदमी को तो क्या, रास्ते के कंकड़ पत्थर और चढ़ाव उतार तक न देख पाती। ठोकर लगी, मुंह के बलगिरी।

[306]चद्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैं ना, पृ0 267

झेंपती हुई स्त्री चोट ओर दर्द भूलकर चुपके से उठती, धूल झाड़कर धीमें से खडी होती। आस-पास तमाशगीर होते। हँसते-मुस्कराते, बूढे, जवान और बच्चे[307]।''

'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा में भी लेखिका ने अस्पृश्य समाज में विधवा विवाह का उल्लेख किया है। इस समाज में अगर कोई विधवा दुबारा शादी करना चाहे तो उसके लिए कोई रोक-टोक नहीं थी। तलाकशुदा औरत को भी दूसरा घर करने में समाज को कोई समस्या नहीं थी परन्तु एक दूसरी शादी की विधि अलग थी ओर इसे विवाह न कहकर 'पाट' कहा जाता था। ''इस विधि में विधवा को सारे सौभाग्यवादी के चिह्न मंगलसूत्र, बिछूए, बिन्दी वगैरह लगाकर सिंदूरी रंग की साड़ी पहनाकर रात के अंधेरे में उसका पति अपने घर लाता था। इस प्रकार के कार्यक्रम में बाजा-गाजा या मंडप नहीं होता था। कोई सधवा विधवा का मुख न देखे इसलिए उसे रात में लाया जाता था। विधवा की तरह तलाकशुदा का भी 'पाट' होता था परन्तु तलाकशुदा को विधवा की तरह रात में नहीं लाया जाता था। विधवा घर के किसी शुभ काम में जैसे शादी पूजा वगैरह में भाग नहीं ले सकती थी। 'पाट' होने पर भी उसके गले में चांदी की या जिसके पास पैसा हो वह सोने की सतह की आकृति का पेडेंट पहनाया जाता था ताकि वह दूसरी औरत है यह सबको पता लग जाए। विधुर पुरूष पूरी धूमधाम से और पूरे रीति-रिवाज के साथ किसी कुंवारी के साथ विवाह कर सकता था, परन्तु विधवा या तलाकशुदा औरत

[307] मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुंडल बसै, पृ0 32

किसी कुंवारे पुरूष के साथ शादी नहीं कर सकती थी। अगर किसी कुंवारे पुरूष से उसे प्रेम हो जाए और उसके साथ भाग जाए तो अलग बात है । पर कभी-कभी देवर के साथ भी 'पाट' हो जाता था परन्तु देवर कुंवारा हो तो पहले उसकी शादी आक के पेड़ के साथ कर दी जाती थी, तब भाभी के साथ[308]।'' परन्तु यह सब पहले की बातें है अब इन रस्मों रिवाजों में परिवर्तन होने लगा है। कहीं-कहीं तो अब इस प्रकार की रस्में लगभग खत्म हो चुकी हैं।

वेशभूषा -

बाल्यावस्था से ही लड़कियों को वेशभूषा के नाम लाज-लज्जा में बांधकर रखा जाता रहा है। भारतीय संस्कृति में औरतों के लिए पहनावें का चुनाव कर रखा जो सिर से पैर तक ढंके रखे। घर के पुरूष चाहे अंगवस्त्र में घूमे परन्तु घर की औरतों को पारम्परिक पोशाक में रहना पड़ता है। अगर गलती से लड़की ने स्कर्ट पहन भी ली और वह स्कर्ट घुटने के उपर चला जाए तो सबको अखरने लगता है। उसे हर-बार टोका जाता है। तथा सलीके के कपड़े पहनने की सलाह दी जाती है। 'अन्या से अनन्या' आत्मकथा में इसका उदाहरण दृष्टव्य है - ''स्कूल में हमें सलवार कमीज पहनना पड़ता। घर लौटकर मेरी अन्य सहेलियों भी स्कर्ट ब्लाउज या सलवार कमीज ही पहनती। मगर अम्मा का कहना था कि घर आकर कपड़े बदल कर साड़ी पहनो। लेकिन क्यों ? 'इसलिए कि अब बड़ी हो गई हो।' 'पर मैं

[308] कौसल्या बैंसत्री, दोहरा अभिशाप, पृ0 17-18

तो कुल नौ साल की हूँ, बड़ी कहा हुई[309]?'' इस प्रकार प्रभा को भारतीय संस्कृति ने आयू से पहले ही बड़ा कर दिया जिसका शिकार बाद में बार-बार होती रही।

'एक कहानी यह भी' आत्मकथा में भी मन्नू की पारम्परिक वेशभूषा का पता चलता है - ''हम लोग उसे कभी हल्के-हल्के रंग वाली बंधेज के डिजाइन बनाने की साड़ियां देती थी[310]।'' हमारे देश में ज्यादातर साड़ियां, चोली ही पहनी जाती है। यहीं पोशाकें प्रचलित है। वहीं पुरूषों के लिए उनकी आवश्यकता के अनुसार पाश्चात्य संस्कृति के पेन्ट शर्ट आ चुके थे परन्तु औरतों को पाश्चात्य अनुकरण की इजाजत नहीं देती। औरतों के लिए पारम्परिक लिबास पहनने का नियम था। इसी कारण महिला आत्मकथाओं में पारम्परिक वेशभूषा का कहीं समर्थन या परम्परा के नाम पर पालन करना पड़ता है।

धार्मिक त्यौहार -

भारतीय संस्कृति में धार्मिक त्यौहारों और उत्सवों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है| अन्य देशों की तुलना में भारतीय संस्कृति में अधिक उत्सवप्रियता है। यह उत्सव धर्मिता परिवार और समाज को एक सूत्र में पिरोती है। यह उत्सव धार्मिक भावना के साथ जुड़े हुए है और साथ ही प्रकृति से भी संबंध रखते है - ''जैसे दीवाली शरद ऋतु का उत्सव है तो होली वसंत ऋतु का त्यौहार है। व्यक्ति इन त्यौहारों के माध्यम से प्रकृति के प्रति अपनी कतज्ञता ही व्यक्त करता है। तीर्थ यात्रा,

---

[309] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ0 32

[310] मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ0 26

होली दिवाली, गंगा स्नान, रक्षाबंधन मेले आदि भारतीय जीवन में सामूहिक भावना की बढ़ोतरी करत है। सम्पूर्ण भारत में दीपावली का त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। शहरी परिवेश की बजाय ग्रामीण परिवेश में त्यौहारों का महत्त्व अधिक है। दिवाली के दिनों में चारों तरफ जगमगाहट दिखाई देती है मानों अंधेरे को चीरता हुआ वह प्रकाश मनुष्य के जीवन में आशावाद भरता है। घरों में चारों तरफ खुशहाली बिखरी रहती है। बच्चों से लेकर बुर्जुग लोग तक सभी इस त्यौहार का आनंद उठाते है। पिंजरे की मैना' में लेखिका ने दिवाली में इस त्यौहार का वर्णन किया है। लेखिका इस संदर्भ में कहती है - ''दिवाली बाबूजी को बहुत पसंद थी। उसे वह साफ-सफाई का त्यौहार कहत-पूरे घरकी पुताई में सालभर का जमा फालतू सामान भी निकलता[311]।'' आज भी हम दिवाली के समय घर की सफाई करते है। अलग-अलग रंगों से घर को रंगीन किया जाता है। दिवाली के दिन अनेक दीपक जलाकर प्रसन्न मन से लक्ष्मी माता का पूजन करते हुए सुख-समृद्धि की कामना की जाती है।

उत्तर भारत में करवाचौथ को त्यौहार विशेषरूप से मनाया जाता है। इसमें विवाहित औरतें अपने पति की लंबी आयु के लिए उपवास रखती है। पूरे दिन अन्न व जल का त्याग कर ईश्वर से अपने पति की सलामती की दुआ मांगती है। इस अवसर पर औरतें हार-शृंगार करके नयी नवेली दुल्हन की सजती है और

[311] चन्द्ररिण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैं ना, पृ0 68

पति के हाथों से पानी पीकर इस व्रत को पूर्ण करती है। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' आत्मकथा में लेखिका ने करवाचौथ के व्रत का वर्णन किया है क्योंकि मैत्रेयी पुष्पा स्वयं भी इस व्रत को रखती है वे लिखती है - ''करवाचौथ का त्यौहार था। हम सब (हिन्दू स्त्रियों) व्रत में थे। पंजाब की औरतों ने सबेरे सरगी खायी थी। हमारे यूपी में उसका चलन नहीं। निर्जल निराहार रहने से पुण्य ज्यादा मिलता है ऐसा कहा जाता है। मैं ज्यादा से ज्यादा पुण्य लूटने के चक्कर में मिसेज गर्ग के पास कहानी सुनने गई थी। औरतों ने पावों में महावर लगाया-मांग भरी और नई बिंदी लगाई। डॉ. रेखा अगव्राल भी पूरी निष्ठा के साथ उपवास पर थी। सुहाग के शृंगार में उन्होंने नई चूड़ियां पहनी[312]।'' परन्तु समय परिवर्तन के साथ लेखिका के विचारों में भी परिवर्तन आता है। व्रत के इस खोखलेपन को स्पष्ट करते हुए वे लिखती है - ''भूखे रहकर ही प्रेम दिखेगा क्या? यह करवाचौथ जैसे त्यौहार हमारे वफादार होने की कसौटी है? पतिव्रता का लाइसेंस प्रदान करने वाले ये त्यौहार, लोकचार ... जिनके द्वारा हमारा सतीत्व हर साल रिन्यू होता है। मोहिता ने कहा था, चंद्रमा क्या है मम्मी? कंकड़ पत्थर भरा कोई उबड़ खाबड मैंदान[313]।'' भारतीय संस्कृति में ऐसे कई त्यौहार, व्रत है जिसे पति की आयु के साथ जोड़ दिया गया है और समाज की मान्यता है कि अगर कोई स्त्री इनका पालन नहीं करती है तो उसे पाप का भागी माना जाता है। आधुनिक समय में भी बहुत सारी पढ़ी लिखी

---

[312] गुड़िया भीतर गुड़िया, मैं त्रयी पुष्पा, पृ0 62

[313] वहीं, पृ0 245

स्त्रियां भी ऐसे व्रत उपवास रखती है। कृष्णा अग्निहोत्री ने और.....और.... औरत आत्मकथा में खंडवा के दुर्गापूजा के त्यौहार का वर्णन किया है - ‘‘खंडवा में दुर्गा अष्टमी के आठ दिनों तक मेरी मां उपवास दान-दक्षिणा एक कुमारी खिलाने की प्रथा को परम्परागत रूप से विवाह करती रही। उस समय हम अपने पैर धुलवा पूड़ी हलवा खाकर उचकते-फांदते चार आने की भेट में भी उल्लासित होते। अष्टमी तक मंडलोई जी के यहां कभी गरबा देखने जो तो कभी पूजा हेतु जाते। उस काल मे यत्र-यत्र दुर्गाजी नहीं बैठाई जाती थी। पूरे शहर में मंडलोई जी के यहां ही बैठती। बाद में नार्महीय धर्मशाला में बैठने लगी[314]।’’

‘दोहरा अभिशाप’ आत्मकथा में लेखिका ने कोसरे उपजाति के त्योहार का वर्णन किया है - ‘‘जनवरी महीने में एक त्यौहार आता जिसे सिर्फ कोसरे उपजाति ही मनाती थी, उसे ‘सूर्या’ कहते। सूर्य की पूजा करते। वह भी आंगन में सूर्य निकलने पर सवेरे मुर्गे की बली देते थे। मुर्गे का सिर काटकर उसे दिन भी आंगन में ही पूजा के स्थान पर टोकरी ढ़ाककर रखते थे। मुर्गा पकाकर खाते थे। शाम को मुर्गे के सिर को पकाकर प्रसाद के रूप में खाते थे[315]।’’ परन्तु अब लोगों में जागृति आने से ये परम्पारिक रस्म-रिवाज बंद हो गए। अब सब पढ़ने की तरफ ध्यान देने लगे है। अस्पृश्य समाज के लोग शिवाजी और कृष्ण के भक्त थे। इसके

[314] और.....और.... औरत, कृष्णा अग्निहोत्री, पृ0 22

[315] कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृ0 23

अलावा उनके अपने देवी-देवता थे। मरीमाई खंडोबा, देवदुल्न, बाघोबा वगैरह, उनकी वे लोग पूजा करते थे। किसी-किसी के घर में नागपंचमी को नाग पूजा होती थी। ‘‘उस दिन वे दीवार पर नाग के चित्र बनाते थे। सारे घर में लाइयां छिडक कर एक कोने में किसी बर्तन में दूध रखते, यह मानकर कि नाग देवता आकर दूध पीएंगे। बस्ती के कुछ लोग जंगल में जाकर किसी गड्ढे या बिल में दुध रख आते थे। संवेरे संवेरे से ही नाग को लेकर बीन बजाते बस्ती मे घूमते थे। औरतें नाग की पूजा करती थी[316]।’’

नागपंचमी, गणेश पूजा के अलावा श्री कृष्णजन्म अष्टमी की पूजा भी की जाती है - ‘‘बस्ती के लोग श्रीकृष्ण जन्म अष्टमी की पूजा बड़ी धूमधाम से करते थे। बाजार में खुब सुंदर-सुदर श्रीकृष्ण की मूर्तियां मिलती थी। लोग इन्हें खरीद कर लाते थे। बाबा भी सुन्दर सी मूर्ति खरीदकर लीपा पोती हो जाती थी। घर को रंग-बिरंगे कागज के फूलों और डंडियों से सजाते थे। कमरे की दीवार पर उपर से नीचे तक चित्र चिपकाते थे। यह चित्र पौराणिक कथा पर आधारित होते थे। एक लकड़ी के चौरंग (एक प्रकार का स्टूल) पर शाम को पूजा करके उस पर श्रीकृष्ण की मूर्त रख देते थे। मां पाचं प्राकर के पकवान बनाती थी। सब घरों में पकवान बनते थे। मां-बाबा उस दिन उपवास रखते थे। रात के बारह बजे श्रीकृष्ण जनम के बाद ही वे खाते थे। पांच पकवानों को रस्सी में टांगकर लकड़ी के फ्रेम में पांच

[316] वहीं, पृ0 57

लडिया श्रीकृष्ण की मूर्ति के उपर टांगते इसको झूला कहते थे। रात के बारह बजे फिर पूजा होती थी। औरतें श्रीकृष्ण के गीत गाती थी। आदमी लोग ढ़ोल, मंजीरे, मृदंग पर भजन गाते थे। सारी रात भजन गाना चलता था। दूसरे दिन शाम को श्रीकृष्ण की पूजा करके पूरी बस्ती के लोग भवन गाते हुए जुलूस निकालकर श्रीकृष्ण भगवान को शुक्रवार तालाब में निसर्जित करते थे। दीवाली होली भी बस्ती के लोग मनाते थे[317]।''

इस प्रकार हम कह सकते है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में मनाए जाने वाले पर्व त्यौहार समाज में सद्भावना मानवता प्रेम एवं एकता में वृद्धि करते है। ये उत्सव, त्यौहार केवल आनंद प्राप्ति के लिए न होकर समाज को एकधारा में जोड़ने, चेतना पेदा करने या समाज के महापुरूषों के आदर्शों को आचरण में लाने के उद्देश्य से भी मनाए जाते है। यह सभी त्यौहार हमारी संवेदनाओं से जुडे हुए है इसलिए इन्हें हम हर वर्ष मनाते है। विवेच्य आत्मकथाओं की लेखिकाएं भारतीय संस्कृति में निहित परम्पराएं एवं रीति-रिवाज का निर्वाह करती है जबकि कुछ लेखिकाओं ने इनका विरोध भी किया है।

[317] वहीं, पृ0 57-58

3.2.4 **सान्स्कृतिक मूल्यों का विघटन**

महिला लेखिकाओं की रचनाओं में भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों के विघटन के लक्षण स्पष्ट दिखायी देते हैं| भारतीय समाज पुरुषप्रधान समाज एवं पुरुष वर्चस्ववादी रहा है। तदनुसार ही इसकी सामाजिक संहिताएं निर्मित है। महिला कथाकारों के अनुसार पुरुष वर्ग को हमारे सभी धर्म ग्रंथों में अपने पूर्ण स्वतंत्रता एवं सुविधानुरूप जीवन व्यतीत करने की आजादी प्रदान की गई है, वहीं स्त्रियों को पुरुषों के आदेशानुसार उनके प्रति पूर्ण समर्पण कर परतंत्रता की भावना को आत्मसात करते हुए जीवन यापन का निर्देश दिया गया है। इन नियमों के पालन हेतु स्त्रियों को बचपन से ही सहनशील होने की शिक्षा दी जाती है। इसके साथ ही उसे मानसिक रूप से पुरुषों द्वारा प्रत्येक शोषण को अपना भाग्य मानकर स्वीकारने तथा बिना शिकायत किए हुए जीने की सीख दी जाती है। यह तथ्य है जिसके कारण महिला सर्जनकारों में आत्मकथा लेखन में संकोच बना रहा। 20वीं सदी में तो कोई लेखन हुआ नहीं। स्वतंत्रता पश्चात भारत में केवल राजनैतिक स्तर पर ही नहीं सामाजिक सांस्कृतिक स्तर पर भी विस्तृत रूप से बदलाव की आंधी चली। आधुनिक शिक्षायुक्त समाज का एक बड़ा वर्ग विशेष रूप से युवा वर्ग ने सदियों से प्रचलित सड़ी गली मानसिकता के जर्जर नियम तथा रूढ़ियों के विरुद्ध अपनी लेखनी चलायी। इससे दबे-कुचले वर्ग को वाणी मिली तथा इसका साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। एक व्यापक स्तर पर महिला लेखिकाओं द्वारा सामाजिक वर्जनाओं को अनदेखा कर बिना किसी लाग लपेट के आपबीती को पाठकों के

समक्ष प्रस्तुत करने की पहल एक सामाजिक क्रांति के रूप में साहसिक पहल थी। इसके माध्यम से समाज, संस्कृति तथा धर्म के नाम पर किए जाने वाले अत्याचारों का पर्दाफाश तो हुआ ही साथ ही एवं सुसंस्कृत कहे जाने वाले लोगों के चेहरे से मुखोटा भी उतरा। निम्न वर्ग में व्याप्त रिश्तों का दुरुपयोग तो अशिक्षा के कारण बाहर आ जाता था । किन्तु मध्यम वर्गीय तथा उच्च वर्गीय समाज अपने आप में सीमित रहने के कारण ढक कर आगे बढ़ जाता है। स्त्रियों ने पूर्ण साहस से सत्य को उद्घाटित किया[318]।

3.2.5 **विदेशी संस्कृति का प्रभाव**

भारत जैसे विशाल देश में तो केवल भौगोलिक वातावरण में ही विविधता नहीं अपितु जाति, धर्म, खान-पान पहनावे पर भी देखने को मिलता है। इन क्षेत्रों में पाश्चात्य संस्कृति ने अपना प्रभाव काफी डाला है, लेकिन फिर भी भारतीय खानपान की संस्कृति आज भी लोकप्रिय बनी हुई है। हमारी अपनी खुद एक परम्परा रही है जो इन परिवर्तनों के दौर में भी अपने अस्तित्व को बचाए रखने में सफल हुई है। महिला-लेखिकाओं ने भी अपने-अपने क्षेत्र के खानपान को अपनी आत्मकथाओं में चित्रित किया है। 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा की लेखिका कौसल्या बैंसंती महार जाति से संबंध रखती है। महार जाति के लोग जिस प्रकार का खानपान करते है उसका चित्रण लेखिका ने अपनी आत्मकथा में चित्रण किया है। कुछ लेखिकाओं की आत्मकथा में पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता का व्यौरा

[318] https://www.hindikunj.com/2022/07/hindi-sahitya-me-mahila-atmakatha-lekhan.html

मिलता है। यह उनके विदेश यात्राओं का प्रभाव है। निर्विवाद सत्य है कि सामाजिक आचार-विचार के साथ प्रत्येक देश, राज्य तथा क्षेत्र विशेष की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है जो उसकी पहचान होती है एवं वही समाज उससे जुड़ी संस्कृति के साथ व्यक्ति के जीवन को प्रभावित तो करता ही है साथ ही उसकी मानसिकता को भी गहन रूप से प्रभावित करता है। सामाजिक तथ्यों के साथ उपरोक्त लेखिकाओं की आत्मकथा में एक तथ्य विशेष रूप से उभर कर सामने आया है- नारी शोषण। नारी अपने बाल्यावस्था में हो, किशोरावस्था में हो, युवावस्था में हो, अधेड़वास्था में हो या वृद्धावस्था में, पुरुष सत्तात्मक समाज हर स्थिति में उसके विविध आयामों में उसे शोषित करता रहता है। शारीरिक स्तर से लेकर मानसिक एवं भावनात्मक रूप से शोषण प्रमुख है[319]।

निष्कर्ष

भारतीय संस्कृति आदिकाल से लेकर आज तक जीवित है। यह आज की विद्यमान है क्योंकि इसने विदेशी आक्रमणों एवं अत्याचारों के भंयकर प्रहार सहकर भी प्रबल विरोधों के बावजूद सहस्त्राब्दियों में सतत उत्पीड़न के बीच अन्तर्मन की अपनी विशेषताओं को जीतकर उन्हें आत्मसात कर लिया है। अतः इतिहास गवाह है कि वैदिक काल से प्रकाशित भारतीय संस्कृति का दीप, जिसकी ज्योति, काल गति से मंद भले ही पड़ गयी हो, समय-समय पर जन्म लेने वाले संतों की परम्परा

[319] https://www.hindikunj.com/2022/07/hindi-sahitya-me-mahila-atmakatha-lekhan.html

द्वारा प्रप्रज्ज्वलित किया जाता रहा है। और उसने अपनी प्रभा से देश-विदेश के लोगों की न केवल चमत्कृत करती है अपितु उन्हें अपनी प्रकाशधारा से चकाचौंध भी किया है। भारतीय संस्कृति समन्वयादी संस्कृति माना जाता है। यहाँ अनेक संस्कृतियाँ आई, किन्तु हलके से कम्पन के पश्चात् हमारी संस्कृति ने उन सबको अपने अस्तित्व में ही विलीन कर लिया। आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के संगम से उत्पन्न संस्कृति से भारत की बुनियादी संस्कृति के स्वरूपक का निर्धारण हुआ है जो आज भी शाश्वत है।

भारतीय विचारकों ने 'संस्कृति' शब्द का विवेचन शुद्धि, परिष्कार, संस्कार, दर्शन, चिंतन, कला एवं आध्यात्मिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में किया है। किसी भी देश के जातीय जीवन की परम उपलब्धि उस देश की संस्कृति होती है। जिसका अनुसरण करके वहां के लोग सुख, शान्ति एवं संतुष्टि का अनुभव करते है। सच में संस्कृति जीवन की उस प्रक्रिया का नाम है जो सदैव बदलती रहती है और सभ्यता के अन्तराल के बाद सदैव वर्तमान रहती है। जीवन के साथ-साथ उसका उत्थान एवं पतन होता रहता है क्योंकि संस्कृति में केन्द्र में मनुष्य होता है जो उसका निर्माता और विनाशक दोनों की ही भूमिका निभाती है। किसी भी समाज के लोग जिन वस्तुओं का उपयोग करते हैं, कैसे व्यवहार करते हैं, यह सब उसकी संस्कृति के अंतर्गत ही आता है। संस्कृति देश, काल, जाति, धर्म और सम्प्रदाय तक सीमित न होकर मनुष्य के सर्वांगीण विकास की सरणी है। यह जीवन का संस्कार है। वह केवल अतीत की विरासत नहीं बल्कि वर्तमान को संजोकर भविष्य की सार्थक

सम्भावना है। यह किसी देश का ऐसा दर्पण होती है जो उसकी विशिष्टताओं के साथ-साथ उसकी दुर्बलताओं के अनुरूप भविष्य की संभावनाओं की यथार्थता को प्रतिबिम्बित करती है। संस्कृति से तात्पर्य संस्कार सम्पन्नता शुद्धि अथवा व्यक्ति की सुधरी हुई स्थिति से है। जिस व्यक्ति का आचरण व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों रूप से शुद्ध हो उसी को संस्कृत कहा जा सकता है। संस्कार सम्पन्नता ही संस्कृति है, ये संस्कार शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। आधुनिक युग में इन संस्कारों का स्वरूप बदल रहा है क्योंकि माता-पिता और समाज की परम्परागत मान्यताओं में परिवर्तन आ रहे हैं मूलतः वहीं संस्कार' देने वाले माने जाते हैं। संस्कारों में होने वाले बदलाव के कारण संस्कृति के रूप एवं स्वरूप में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है। संस्कृति और संस्कार को अलग नहीं किया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता समन्वय की भावना है। जिस प्रकार कोई नदी अपनी उपनदियों को अपने भीतर समाहित करके आगे मार्गक्रमण करती है। ठीक उसी तरह भारतीय संस्कृति भी अन्य संस्कृतियों को अपने में समाहित करके चलती है। समन्वय भारतीय संस्कृति का मूल आधार है।

भारतीय संस्कृति में आश्रम-व्यवस्था के साथ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष जैसे चार पुरूषार्थों का विशेष स्थान रहा है। इन्हीं पुरूषार्थों ने भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता का एक अद्वितीय समन्वय कर दिया। हमारी

संस्कृति में इहलोक और परलौक दोनों पहलुओं से धर्म को सम्बन्ध किया गया था। धर्म उन सिद्धान्तों तत्त्वों और जीवन प्रणाली को कहा जाता है।

भारत को भौगोलिक दृष्टि से विविधताओं को देश माना जाता है फिर भी सांस्कृतिक रूप में एक इकाई के रूप में इसका अस्तित्व आदिकाल से बना हुआ है। भारतीय परिवेश में विभिन्न धर्म तथा विभिन्न धर्मों के असंख्य जातिगत व्यवस्थाएं है। इन भिन्न-भिन्न धर्मो के जनजातियों के भाषाओं में, रहन-सहन, खान-पान, रूढ़ि परम्पराओं के अंतर होते हुए भी भारतीय संस्कृति ने इन सभी को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयाय किया है। हमारी संस्कृति ने ही कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले हुए विस्तृत भू-भाग को एकसूत्र में पिरोने का कार्य किया है।

एक ही देश के अलग-अलग क्षेत्रों में रहने वाले लोगों का खानपान बिल्कुल भिन्न हो जाता है। भारत जैसे विशाल देश में तो केवल भौगोलिक वातावरण में विविधता नहीं अपितु जाति, धर्म, खान-पान, पहनावे पर भी देखने को मिलता है। इन क्षेत्रों में पाश्चात्य संस्कृति ने अपना प्रभाव काफी डाला है, लेकिन फिर भी भारतीय खानपान की संस्कृति आज भी लोकप्रिय बनी हुई है। हमारी अपनी खुद एक परम्परा रही है जो इन परिवर्तनों के दौर में भी अपने अस्तित्व को बचाए रखने में सफल हुई है।

भारतीय समाज में परम्परा का महत्त्व अत्यधिक है। पारम्परिक पद्धति से विवाह, व्रत, त्यौहार स्त्रियों के जीवन के अतिभाज्य अंग होते है। भारतीय समाज में विववाह को तो एक महत्त्वपूर्ण संस्था माना जाता है जो मनुष्य की कामभावना, वंश-वृद्धि एवं सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित संस्कार के साथ-साथ धार्मिक संस्कार भी माना जाता है।

भारतीय संस्कृति में धार्मिक त्यौहारों और उत्सवों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है अन्य देशों की तुलना में भारतीय संस्कृति में अधिक उत्सव प्रियता है। यह उत्सवधर्मिता परिवार और समाज को एक सूत्र में पिरोती है।

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। उसकी शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक जरूरतें समाज में ही पूर्ण होती है जिसके लिए वह समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ संबंध स्थापित करता है। वास्तव में व्यक्ति में समाज के अन्य सदस्यों से संबंध स्थापित करने की प्रवृति स्वाभाविक होती है, जिसे वह सामाजिक अन्तःक्रिया के फलस्वरूप विकसित करता है। समाज व्यक्ति के संबंधों के आधार पर लगातार विकसित और परिमार्जित होता रहता है। समाज जनरीतियों, रूढ़ियो एवं संस्थाओं, आदतों, भावनाओं एवं आदर्शों की सम्पूर्ण सामाजिक पद्धति है, जो उत्तराधिकार के रूप में हस्तांतरित होती है। व्यक्ति का सर्वांगीण विकास अर्थात् शारीरिक मानसिक, भौतिक, सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक विकास समाज के द्वारा हो पूर्ण होता है। समाज एक व्यक्ति से नहीं बनता इसलिए समाज के लिए एक से अधिक

व्यक्तियों की सत्ता की आवश्यकता होती है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और उसमें अपने साथियों के साथ सामान्य रूप से जीवन जीने की क्षमता पाई जाती है। व्यक्ति के ये सम्बन्ध पारिवारिक, राजनीतिक, व्यक्तिगत, आर्थिक मैत्रीपूर्ण, द्वेषयुक्त सहयोग से पूर्ण, सहयोग बहुत प्रकार से हो सकते हैं इन्हीं विभिन्न संबंधों के कारण समाजका निर्माण होता है और इन्हीं सब कारणों से समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन आ जाता है। समाज में रहते हुए व्यक्ति को अपने दायित्वों, कर्तव्यों का बोध होता है। समाज में रहते हुए ही व्यक्ति में सामाजिक चेतना विकसित होती है। व्यक्ति के विकास में ही समाज का विकास निहित होता है। अतः व्यक्ति एवं समाज का विकास आपस में संबंधित है। दोनों एक-दूसरे के पूरक है।